

ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष : 09, अंक : 35, जुलाई-सितंबर 2022

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

मूल्य : 100 रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से ...

अवतार सिंह संधू 'पाश'
(जन्म 9 सितंबर 1950 - 23 मार्च 1988)



मैं कहता हूँ

बहुत-से लोग कहते हैं -
बड़ा कुछ और कहने को है
बहुत कुछ आगे तय करने को है
जैसे बात शब्दों के साथ नहीं कही जाती
जैसे बाट कदमों के साथ खप नहीं जाती
बहुत-से लोग कहते हैं -
अब कहने के लिए कुछ भी बाकी नहीं
तय करने के लिए कुछ भी बचा नहीं
जैसे शब्द नपुंसक हो गए हों
जैसे कदम बाँझ हो गए हों
तो मैं कहता हूँ
सफर की, इतिहास की बात न करो
मुझे अगला कदम रखने के लिए जमीन दो।

बीच का रास्ता नहीं होता
रचनाकाल - 1989

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

पीयर रिव्यूड त्रैमासिक

वर्ष-9, अंक- 35, जुलाई-सितंबर 2022

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
 प्रकाशक : विद्यार्थी मंच
 प्रबंध संपादक : सुशील कुमार पांडेय
 कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
 प्रसार प्रबंधक : रमेश कुमार शर्मा
 प्रूफ संशोधक : परमजीत पंडित

पीयर रिव्यूड टीम :

डॉ. धूपनाथ प्रसाद : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 डॉ. विश्वजीत भद्र : प्राध्यापक, नेताजी नगर कॉलेज (कलकत्ता विश्वविद्यालय)
 प्रो. मोहम्मद फ़रियाद : प्राक्तन अध्यक्ष, जनसंचार विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद
 डॉ. सुनील कुमार 'सुमन' : प्रभारी, क्षेत्रीय केंद्र कोलकाता, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र
 प्रो. मंजु रानी सिंह : विश्वभारती, शांतिनिकेतन
 प्रो. अरुण होता : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, स्टेट यूनिवर्सिटी, बारासात
 प्रो. मनीषा झा : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तर-बंग विश्वविद्यालय
 डॉ. सत्या उपाध्याय : प्राचार्य, कलकत्ता गर्ल्स कॉलेज, कोलकाता
 डॉ. अंजनी कुमार झा : एसोसिएट प्रोफेसर, मीडिया स्टडीज, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी (बिहार)
 डॉ. शुभ्रा उपाध्याय : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, खुदीराम बोस सेंट्रल कॉलेज, कोलकाता

मुक्तांचल: A/c- 50200014076551, HDFC BANK BURRABAZAR, KOLKATA- 700007, IFSC CODE- HDFC0000219

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
 सलाकिया, हावड़ा-711106, पश्चिम बंगाल
 संपर्क - 033-26751686, 9831497320, 9681105070

ई-मेल - muktanchalpatrika@gmail.com
 sinhameera48@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
 कोलकाता-700009

पत्रिका का मूल्य : एक अंक - 100 रुपये

सदस्यता शुल्क : वार्षिक- 500 रुपये, आजीवन-2500 रुपये

संस्थाओं के लिए : वार्षिक-550 रुपये, आजीवन-3000रु.

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त 30 रुपये।

मुक्तांचल जुलाई-सितंबर 2022

परामर्श एवं विशेष सहयोग :

प्रो. दामोदर मिश्र : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विद्यासागर विश्वविद्यालय
 डॉ. कृष्ण कुमार : अध्यक्ष, गीतांजलि बहुभाषिक साहित्यिक समुदाय, (बर्मिंघम, यू.के.)

डॉ. पंकज साहा : खड़गपुर कॉलेज, पश्चिम बंगाल

डॉ. अरुण कुमार : प्राक्तन प्रोफेसर, राँची विश्वविद्यालय

डॉ. रणजीत सिन्हा : मिदनापुर कॉलेज (ऑटोनोमस), मिदनापुर

डॉ. निशांत : काजी नजरूल विश्वविद्यालय, आसनसोल

डॉ. रामप्रवेश रजक : हिंदी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय

व्यवस्थापन एवं प्रबंधन :

विनोद यादव, विनीता लाल, सरिता खोवाला एवं
 बलराम साव - 89107 83904

संपर्क एवं प्रसार :

चाँदनी सिन्हा (बर्मिंघम, यू.के.) : +447411412229

कुणाल किशोर (के.वि. हिमाचल प्रदेश): 7998837003

लेखकों से अनुरोध किया जाता है कि मुक्तांचल में
 प्रकाशन हेतु सामग्री यूनिकोड वर्ड (Unicode Word)
 या (Kurtidev010) में भेजें।

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
 'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र कलकत्ता
 उच्च न्यायालय होगा।

अवस्थिति

शो ध	6 संस्तुति आलेख	
	7 डॉ. ऋषिकेश राय	प्रसारण और सिनेमा की भाषा
	14 डॉ. कैलाशनाथ पाण्डेय	भूमंडलीकरण, संस्कृति और पूँजीवाद
	25 वीरेन्द्र परमार	आठवीं अनुसूची है या भारतीय रेल का अनारक्षित डिब्बा
स मी क्ष ण	30 डॉ. राजीव कुमार रावत	आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी ई-उपकरण
	अनुशीलन	
	37 डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय	मन्नू भंडारी : कहानी सृजन के विविध आयाम
	46 डॉ. रीता सिन्हा	सांस्कृतिक समन्वय और प्रेमचंद
सृ ज न	53 डॉ. प्रिया ए.	केरल की आदिवासी घुमंतू जाति मन्नान वर्ग की कला एवं संस्कृति
	शोधार्थी की कलम से	
	56 श्रीप्रकाश पाल, डॉ. मो. नवाज़ खान	आर. के. लक्ष्मण के कार्टूनों में आम-आदमी की छवि
	कहानी	
सं चा र	61 कृष्णा श्रीवास्तव	आप कौन बोल रहीं हैं
	65 तपेश भौमिक	अनाहूत का स्वागत
	68 हरभजन सिंह मेहरोत्रा	तमाशा
	विचार कथा	
सं चा र	73 राणाप्रताप	सृजन का संकट, पुस्तकें बदला भी ले सकती हैं, ज्ञान का निजीकरण, सौंदर्य तत्व के बारे में, शब्द-साधना।
	व्यंग्य	
	78 आशुतोष सिंह	तृप्यन्ताम
	समय की शिला पर	
सं चा र	81 यतीश कुमार	स्मृति में भ्रंश-किउल नदी : मेरी कविताओं की धौंकनी

शो ध	कविता	
	84 कैलाश मनहर 85 मीरा श्रीवास्तव	वह आदमी, कुण्ठा दस्तक के इंतजार में किवाड़, तुम्हें याद हो के न याद हो, प्रतिवाद...
स	87 महेश कुमार	पिता दुख को समझते थे!, परिणत होते पिता, बायाँ हाथ
मी क्ष ण	90 धर्मेन्द्र गुप्त 91 मोतीलाल दास 93 रजत सान्याल सरगम के सुर साधे 94 लीलाधर जगूड़ी	धर्मेन्द्र गुप्त की चार गजलें हमारा सूरज, कविता या खबर रजत सान्याल की तीन कविताएँ डरावनी भविष्यवाणियों के बीच कविता
	पुस्तकायन	
	101 डॉ. सुलोचना दास	‘केदारनाथ सिंह का दूसरा घर’ कवि से एक मुकम्मल भेंट
	107 जितेन्द्र कुमार 110 नृपेन्द्र अभिषेक नृप	कविता में ‘उम्मीद चिनगारी की तरह’ आम जन की कहानी है ‘आगे से फटा हुआ जूता’
ज न	112 डा. पंकज साहा 116 खुदेजा ख़ान	देश जन से जुड़ाव है : कटाव जीवन के यथार्थ बोध की ‘काली कविताएं’
	गतिविधियाँ	
सं चा र	119 रानी तांती	प्रेमचंद जयंती पर मुक्तांचल के 34वें अंक का लोकार्पण
	120 श्रद्धा गुप्ता	तुलसी जयंती पर ‘विद्यार्थी मंच’ द्वारा परिचर्चा का आयोजन
	121 विनोद यादव	आजादी के अमृत महोत्सव पर ‘मुक्तांचल’ तथा ‘विद्यार्थी मंच’ द्वारा ‘विविधा’ का आयोजन
	122 प्रिया श्रीवास्तव	‘विद्यार्थी मंच’ द्वारा शिक्षक दिवस का आयोजन

संस्तुति

विरोध की आवाज जहाँ क्षीण से क्षीणतर होती जा रही हो वहाँ प्रतिरोध हमारे अस्तित्व को संबल दे सकता है। दुनिया जहान में फैलने वाले गर्द और गुबार से मन और मस्तिष्क को बचाना कठिन हो चला है। वैमनस्य और विद्वेष की अंतिम परिणति हिंसा है जो पशुता और अमानवीयता की सारी हदें तोड़कर मनुष्यत्व पर भारी पड़ती जा रही है। तमाम ऐसी वृत्तियाँ-मनोवृत्तियाँ जो कट्टरता, रूढ़िवादिता, सनक और अमानवीयता का सुरसा मुख बनकर समाज को लीले जा रहा है। ऐसे समय में प्रतिरोध की जरूरत बढ़ती जा रही है। स्वार्थ का सैलाव सबको एक ही तरफ बहाये लिए जा रहा हो - और पैर के नीचे दल-दल और रेत जब टिकने नहीं दे रही हो तब प्रतिरोध का पत्थर ही हमें डूबने और बहक जाने से बचा सकता है।

साहित्य सृजन का क्षेत्र है। सृजन के पीछे चलती है सोच जो रचनाकार के मन में अभिव्यक्ति के लिए बेचैनी पैदा करती है। आज का माहौल बेचैनियों से भरा पड़ा है। दुखिया दास कबीर जागता है और रोता है। आज का कबीर का रुदन विरोध का स्वर है, जो नक्कार खाने में तूती की आवाज बन गई है। दुनिया भर में फैलती जा रही जहरीली आँधी से बचाव के लिए हम प्रतिरोधक शक्तियों को आयत कर सकते हैं। आज का साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है। या यों कह सकते हैं कि आज की कविता बचाव की कविता है, आज की कहानी असमंजस की जननी है, आज का नाटक विडंबना की प्रस्तुति और उपन्यास समय का आईना है।

संचार की तीव्रता में आज लपट की भूमिका ले ली है। अतः उत्तेजना और उकसावा साहित्य सृजन को भी मलीन कर रही है तथा सोच को साहित्य से विलग करने के लिए आमादा हो गई है। ऐसे में इस पीली आँधी से बचाव के पक्ष को मजबूत करना बहुत जरूरी हो गया है। इस जहरीली लहर की लपट से बचने के लिए प्रतिरोध को संगठित करना होगा। तर्क, सोच और मनुष्यता से समन्वित सृजन ही प्रतिरोधक साहित्य की रचना करेगा। सस्ती लोकप्रियता, पाखंड एवं दिखावा का भ्रमजाल कभी स्वस्थ संस्कृति का निर्माता नहीं हो सकता। मनुष्य की बनाई इस दुनिया को बचाने में प्रतिरोध का स्वर ही सहायक हो सकता है।

श्रीर शिन्हा

संपादक

19वीं सदी के आठवें दशक से ही हिंदी-उर्दू का प्रश्न युक्त प्रांत में विवाद का प्रश्न बना हुआ था, जिसे प्रच्छन्न- रूप से हवा देने का कार्य औपनिवेशिक राजसत्ता कर रही थी। सदी के अंत तक नागरिक प्रशासन एवं न्याय व्यवस्था में देवनागरी वर्णों को मान्यता मिलने के बावजूद पूरे स्वतंत्रता आंदोलन की अवधि में यह प्रश्न राष्ट्रीय नेतृत्व वर्ग को मथता रहा। संस्कृतनिष्ठ हिंदी और अरबी-फारसी बहुल उर्दू के बीच मध्यममार्गी समझौते के रूप में हिंदुस्तानी की परिकल्पना की गई। संविधान के निर्माण तक भाषा सम्बन्धी यह बहस विभिन्न मंचों पर चलती रही थी। संविधान के अनुच्छेद 351 में, राजभाषा हिंदी के निर्माण हेतु संदर्भ बिंदुओं को रेखांकित करते हुए शैली रूप में हिन्दुस्तानी से तत्त्वों के ग्रहण को निर्देशित किया गया था। प्रशासन में हिन्दुस्तानी की लोकप्रियता न रहने पर भी प्रसारण एवं विशेषकर फिल्मों ने सामासिक संस्कृति के अनुकूल एक सहज एवं सम्प्रेषणीय भाषा के निर्माण में सफलता प्राप्त की। इस सहज सुलभ जनभाषिक स्वरूप ने हिंदी के प्रसार में महत्वपूर्ण सहयोगी भूमिका का निर्वहन किया।

विभाजन के पूर्व हिंदी/उर्दू और हिंदुस्तानी को लेकर चलने वाली बहसें, गहरे सामाजिक-सांस्कृतिक बँटवारे की सूचक थीं। राष्ट्रभाषा को परिभाषित करने का उपक्रम वस्तुतः वर्चस्व के सत्ता विमर्श में रूपांतरित होता जा रहा था। प्रकारांतर से यह एक ऐसा प्रश्न बन चुका था, जिससे नागरिकता की भाषाई, शैक्षणिक एवं सामाजिक शर्तों का निर्धारण होना था। इससे यह तय किया जाना था कि राष्ट्र और उसके लोकवृत्त की सदस्यता प्राप्त करने के लिए किस प्रकार के भाषिक सामाजिकीकरण की अनिवार्यता थी। पियरे बोरडीड ने राष्ट्रभाषा के निर्माण एवं उसकी स्थापना के प्रयत्नों को 'प्रतीकात्मक वर्चस्व' की संज्ञा दी है, जो भाषाई शुद्धता के प्रति आग्रह, शैक्षणिक संस्थानों में उसके प्रयोग और सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से वैधीकरण को प्राप्त होती है।

1930 के दशक के आरम्भिक वर्षों में कांग्रेस द्वारा पूर्ण आजादी की घोषणा के साथ ही रेडियो प्रसारण और चलचित्रों के समक्ष राष्ट्रीय श्रोता-दर्शक वर्ग तक पहुँचने के लिए समुचित भाषाई रूप का सवाल पैदा हो गया। देश में साक्षरता की अल्प दर के कारण मुद्रित सामग्री के समक्ष पठनीयता का संकट तो पहले से ही था। प्रसारण एवं चलचित्रों के समक्ष मुद्रण के समान समस्याएं तो नहीं थी क्योंकि दृश्य-श्रव्य माध्यम होने से वह भाषा के वाचिक रूप पर ही निर्भर था। यद्यपि फिल्मों के दर्शकों और आकाशवाणी के श्रोताओं के लिए किसी शैक्षणिक योग्यता की आवश्यकता तो नहीं थी

परंतु बोली जानेवाली भाषा का एक निश्चित स्रोत तो कायम रखना ही था। इसके लिए लिखित भाषा को मानक मानकर ही प्रसारण की भाषा गढ़ी गई। इस प्रयत्न ने 'सांस्कृतिक प्रभुत्व' का प्रश्न उठाकर भाषाई स्वरूप को विवाद का विषय बनाने की चेष्टा की। जनता की भाषा के इस प्रतिदर्श के लिए एक विशिष्ट भाषाई संस्कार की अपेक्षा तो थी ही। इसके लिए मानकीकृत ब्रिटिश अंग्रेजी ने एक अनुकरणीय संदर्भ का काम किया। जनसंचार का विकास राजनीतिक चेतना के प्रसार से जुड़ा होता है। इसीलिए राजनीतिक दल अपने हित में इसका उपयोग करते हैं। जनसंचार की नीतियों के निर्माण के लिए ब्रिटिश प्रशासन व्यापक चर्चा करता था, किंतु उस समय के राष्ट्रीय नेतृत्व में इस प्रश्न को लेकर किसी व्यवस्थित चिंतन का अभाव हमें परिलक्षित होता है। दूसरी ओर सिनेमा को लेकर किसी राजकीय चिंता अथवा सरोकार का अभाव स्पष्ट होता दिखाई पड़ता है। इसमें 1927-28 में भारतीय सिनेमाटोग्राफी समिति की स्थापना एक आपवादिक कृत्य है। 1950 में भी फिल्मों की जाँच के लिए एक समिति बनाई गई थी। लेकिन इन समितियों का सम्बन्ध फिल्मों की भाषा और उसकी सामाजिक भूमिका से नहीं था। विशेष रूप से शहरों में प्रबल जनरुचि का विषय होते हुए भी फिल्मों की भाषिक भूमिका के प्रति राष्ट्रीय नेतृत्व वर्ग जागरूक नहीं था। यह परिदृश्य बाद में प्रकट होना था जब फिल्म कलाकारों ने (विशेषरूप से पहले दक्षिण भारत में) राजनीति में सक्रिय भागीदारी करनी शुरू की।

शिक्षा, प्रशासन और न्याय व्यवस्था में भाषा के प्रश्न पर काफी लम्बी बहस हो चुकी थी, जिसका सूत्रपात गांधीजी की प्रेरणा से हुआ था। कांग्रेस ने अपनी भाषा नीति का निर्माण

सभी वर्गों के हितों को ध्यान में रखकर किया था। कांग्रेस की भाषा नीति का विवरण जवाहर लाल नेहरू की निबंधों की पुस्तक 'द यूनिटी ऑफ इंडिया' में उपलब्ध है। नेहरू ने इसमें हिंदी-उर्दू विवाद की चर्चा करते हुए एक साझी राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता पर बल दिया था। भारत की प्रमुख भाषाओं के रूप में उन्होंने बारह भाषाओं को शामिल किया था। उन्होंने भाषिक सीमाओं को ही राज्यों की राजनीतिक सीमाओं के निर्धारण का आधार बनाने की वकालत की थी। इस सीमांकन का उद्देश्य था, राज्यों की भाषाओं को उनके क्षेत्रों में शिक्षा और प्रशासन का माध्यम बनाना। मजेदार तथ्य है कि प्रधानमंत्री बनते ही नेहरू इस धारणा के विरोध में चले गए। किंतु प्रबल जनमत के आगे उन्हें झुकना पड़ा और आधे-अधूरे स्तर पर ही सही भाषाई राज्यों का निर्माण संभव हो पाया। राज्यों के भाषावार आधार पर निर्माण की पृष्ठभूमि में क्षेत्रीय भावना का अत्यंत तीव्र उद्रेक हुआ। इन क्षेत्रीय भावनाओं ने राष्ट्रीय चेतना के समक्ष एक प्रकार का संकट उत्पन्न कर दिया। नेहरू ने इस परिस्थिति में गांधी जी की उस पुरानी इच्छा को दोहराया जिसमें अपेक्षा की गई थी कि सभी भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि स्वीकृत कर ली जाए। इन तमाम भाषाई सवालों से अलग, हिन्दी- उर्दू का प्रश्न एक प्रमुख मुद्दा था, जिसके सामाजिक एवं राजनीतिक निहितार्थ भी थे। हिंदी-उर्दू के स्वतंत्र साहित्यिक भाषाई अस्तित्व और सामाजिक अस्मिता को देखते हुए दोनों को वैध भाषाओं के रूप में मान्यता दिया जाना आवश्यक था। नेहरू का मत था कि आधुनिक जीवन की जरूरतों के अनुसार हिंदी-उर्दू दोनों का अपनी-अपनी शब्दातवली विकसित करना एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी। उनका मानना था कि एक भी भाषा

की समृद्धि प्रकारांतर से दूसरी भाषा को भी सम्पन्न करेगी। ऐसा विकास सरकारी नीति निर्माण के दायरे के बाहर की चीज है। हिंदी उर्दू विभेद के साम्प्रदायिक आशयों की पहचान करते हुए नेहरू इसे सामयिक परिघटना मानते थे, जो इतिहास के एक अस्थायी चरण तक ही महदूद रहेगा। सबसे महत्वपूर्ण है परिवर्तन को उत्प्रेरित करना, जनशिक्षा और राष्ट्रीय एकता को पोषित करना। हमारी वर्तमान समस्याएं जनता से कटी हुई कृत्रिम साहित्यिक भाषाओं के कारण हैं। यदि लेखक जनसमुदाय को केन्द्र में रखकर लिखेंगे तो भाषा स्वाभाविक तौर पर सरलीकृत हो जाएगी। जनता की समस्याओं को जगह देकर ही कोई भाषा जनता तक पहुँच सकती है। नेहरू का विश्वास था कि ऐसे उद्देश्यों का पालन करनेवाली भाषा ही राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा दे सकती है।

इस बीच भारतीय जन के बीच सम्प्रेषण की वृद्धि के लिए आधारित हिंदुस्तानी को प्रचलित किया जाना चाहिए। यह हिंदुस्तानी उसी मॉडल पर विकसित होनी चाहिए जैसा सी.के. ऑगडे न और आई.ए. रिचर्डस ने बुनियादी अंग्रेजी के लिए प्रस्तावित किया था। 'बेसिक इंगलिश' का विकास आठ सौ शब्दों और व्याकरणिक रूपों के सरलीकरण के द्वारा किया गया था। हिंदी और उर्दू के साझे तत्वों के आधार पर ऐसी ही भाषा के विकास के नेहरू हिमायती थे।

राष्ट्रीय प्रसारण व्यवस्था की शुरुआत करने के लिए बी.बी.सी. के पूर्व अधिकारियों को नियुक्ति किया गया जिन्होंने हिंदुस्तानी के प्रसार-प्रचार के लिए यथेष्ट उत्साह का प्रदर्शन किया। 1938 में बी.बी.सी. के पूर्व अधिकारी लायोनेल फील्डेकन ने 'हिंदुस्तानी क्या है?' विषय पर एक परिचर्चा का आयोजन किया था। इसके उद्देश्य रूप में

कहा गया था कि अधिकतम लोगों को समझ में आनेवाली भाषा का विकास प्रसारण क्षेत्र में करना सर्वसामान्य के हित में है। पंद्रह मिनट की वार्ता के लिए छह वक्ताओं को आमंत्रित किया गया था। इस कार्यक्रम का प्रसारण पाँच प्रमुख उत्तर-भारतीय केन्द्रों यथा पेशावर, लाहौर, दिल्ली, लखनऊ और कलकत्ता से किया जाना था। आमंत्रित वक्ताओं में राजेन्द्र प्रसाद, अबुल कलाम आजाद, जाकिर हुसैन, ताराचंद, अब्दुल हक और नरेन्द्र देव थे। इनमें से दो लोग आगे चलकर भारत के राष्ट्रपति बने। राजेन्द्र प्रसाद ने फील्डेकन को पत्र लिखकर यह आशंका प्रकट की सूची में उर्दू के चार लोगों को रखना आल इंडिया रेडियो के भाषाई पूर्वाग्रह का सूचक है। वस्तुतः आल इंडिया रेडियो हिंदी की कीमत पर उर्दू को बढ़ावा दे रहा था। इसके द्वारा प्रचारित एवं व्यवहृत हिंदुस्तानी उर्दू को पिछले दरवाजे से लाने का ही एक उपक्रम था। वस्तुतः हिन्दुस्तानी भाषा के रूप में, साम्प्रदायिक विभेद को मिटाने के लिए किया गया एक राजनीतिक प्रयास अधिक था। इसका भाषिक वास्तविकता और व्यवहारिक प्रयोगात्मकता से कुछ लेना-देना नहीं था। 'बेगम सीता' जैसे हास्याहस्पद प्रयोगों ने पहले ही सांस्कृतिक संदर्भण में इसकी कृत्रिमता को उजागर कर दिया था। राजेन्द्र प्रसाद ने इस परिचर्चा में शुद्ध हिंदी के प्रयोक्ता के रूप में हिंदी साहित्य सम्मेलन के किसी प्रतिनिधि को आमंत्रित करने का आग्रह किया। आजादी के पूर्व के दशक में आल इंडिया रेडियो की भाषानीति का सबल प्रतिकार हिंदी साहित्य सम्मेलन ने किया था। 1990 में गठित इस संस्था के कर्णधारों में पं. मदन मोहन मालवीय और पुरुषोत्तम दास टंडन शामिल थे। सम्मेलन ने शिक्षा, पत्रकारिता और सरकारी कार्यालयों में हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा

देने में महत्वपूर्ण भूमिका का पालन किया था। 1936 में ऑल इंडिया रेडियो की स्थापना हुई तथा अगले वर्ष प्रांतीय सरकारें भी अस्तित्व में आ गईं। बी.बी.सी. के इंजीनियरों की संस्तुति को दरकिनार करते हुए इलाहाबाद के स्थान पर लखनऊ में आकाशवाणी के केन्द्र की स्थापना को मंजूरी प्रदान की गई। वास्तेव में ऑल इंडिया रेडियो का विभाजन पूर्वकाल में लाहौर से गहरा रिश्ता रहा था। इसके अधिकांश अधिकारी अहमद शाह बोखारी 'पतरस' द्वारा नियुक्त किए हुए थे। श्री बोखारी उर्दू के गद्य लेखक अंग्रेजी के प्रोफेसर और कैम्ब्रिज वि.वि. में आई.ए. रिचर्डस के शिष्य रह चुके थे। बोखारी अंग्रेजी और उर्दू शख्स थे जिनपर ऑल इंडिया रेडियो की भाषा नीति के निर्धारण की जिम्मेवारी थी। उन्होंने हिंदुस्तानी के नाम पर अरबी-फारसी के अबुझ शब्दों का प्रयोग करना शुरू कर दिया। देश की भाषिक परम्परा और अधिसंख्यक लोगों के संस्कार के प्रति यह एक असंवेदनशील और सामंती रवैया था।

1940 में हिंदुस्तानी में समाचार प्रसारण के लिए बोखारी ने 8000 शब्दों की एक सूची बनाने की परियोजना पर काम शुरू किया। इस कार्य के लिए उन्होंने हिंदी से अज्ञेय और उर्दू के पत्रकार सी.एच. हसरत को नियुक्त किया। ये दोनों सज्जन लाहौर से ही थे। हिंदी विशेषज्ञ को हिंदी और उर्दू विशेषज्ञ को उर्दू में अंग्रेजी शब्दों के समतुल्य शब्द संकलित करने थे। अधिक प्रचलित शब्दों को आपसी समझौते के आधार पर चयनित किया जाना था। इस शब्द की सटीकता और निरपेक्षता पर विशेष ध्यान दिया जाना था। इस समझौतावादी रूख को समझने के लिए अंग्रेजी के 'प्राइम मिनिस्टार' शब्द का अनुवाद ध्यान देने योग्य है। उर्दू में इसके लिए 'वजीरे आजम' शब्द प्रचलित था, हिंदी में इसका

समतुल्य शब्द 'मुख्यमंत्री' था। किन्तु सहमति बनी 'बड़ा वजीर' पर। ध्यातव्य है कि भाषा को सम्मेषण माध्यम मानकर उसका अति सरलीकरण करना उसे गरिमा विहीन कर एवं उसके सांस्कृतिक संदर्भों से काट देना है। भाषा को वस्तुओं एवं भावों के अमूर्त प्रतीकीकरण तक सीमित कर देना, किसी भाषिक समुदाय को उसकी आत्मिक संस्कृति की विरासत से विच्छिन्न कर देना है। ऑल इंडिया रेडियो के भाषाई प्रयोगों ने असंतोष को बढ़ावा दिया। मुस्लिम लीग ने अति संस्कृतीकरण का आरोप लगाते हुए ऑल इंडिया रेडियो के बजट में कटौती की माँग कर डाली। लियाकत अली खान ने कहा कि, ऑल इंडिया रेडियो द्वारा इस्ते माल की जानेवाली भाषा न तो उर्दू है न हिंदी न संस्कृत न अंग्रेजी बल्कि यह इन सभी भाषाओं से बनी खिचड़ी है। खान ने कहा कि उर्दू ही हिंदुस्तान की उपयुक्त राष्ट्रभाषा है। यह लाखों लोगों की स्वाभाविक जबान है। कांग्रेस का अधिकांश नेतृत्वी जेल में था। हिंदी के पैरोकारों ने भाषा नीति में उर्दू को नाजायज छूट देने के लिए रेडियो के अधिकारियों को आड़े हाथों लिया। उन्होंने उर्दू को मुगल दरबार और लश्कर की भाषा करार दिया जिसका जनता से कोई सम्बन्ध नहीं था। अहमद शाह बोखारी के भाई जुल्फिकार अली बोखारी ने जो बाद में रेडियो पाकिस्तान के महानिदेशक बने लिखा है कि हिंदुस्तानी में शब्द कोशों और साहित्य के अभाव के कारण उसे प्रसारण की भाषा न बनाया जा सका।

हिंदुस्तानी की आड़ में उर्दू के व्यवहार को प्रश्रय देने की नीति ने हिंदी बुद्धिजीवियों के मध्य तीव्र प्रतिक्रिया को जन्म दिया। विधान सभा में बहस हुई और हिंदी लेखकों ने रेडियो का बहिष्कार किया। इस विरोध के सूत्रधार हिंदी साहित्य

सम्मेलन प्रयाग के हिंदी सेवी श्री रवि शंकर शुक्ल थे। उन्होंने इस विषय पर कई पुस्तकें और पत्र लिखे। 1940 के दशक में हिंदुस्तानी का विरोध करने वाले लेखकों में वे अग्रणी थे। उनके अनुसार उर्दू हिंदी की एक विशिष्ट शैली थी, जिसका सम्बन्ध मौलवियों और नवाबों से था और बहुसंख्यक जनता उससे अनजान थी। उर्दू को मान्यता देना 'बाबू हिंदुस्तानी' को स्वीकृति देने के समान है। यह हिंदी की एक शैली थी जिसमें अंग्रेजी शब्दावली की भरमार थी। श्री शुक्ल ने उर्दू के प्रयोग के संदर्भ में राबर्ट साउदी का वह कथन उद्धृत किया जिसमें उन्होंने कहा था कि, पुरातन अंग्रेजी के स्थान पर लैटिन और फ्रेंच का प्रयोग देशद्रोह के समान था। न केवल शब्दावली बल्कि उर्दू की सम्पूर्ण संस्कृति भी विदेशी है। भारतीय जीवन में अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करने के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता है जो जटिल अभिव्यक्तियों का वहन कर सके। संस्कृत शब्दों का प्रयोग करनेवाली हिंदी ही वह भाषा बन सकती है। इसको अस्वीकार करने का मतलब है, भारतीय राष्ट्रीय जीवन का अस्वीकार। हिंदी-उर्दू मिश्रण के रूप में प्रचारित की जानेवाली हिंदुस्तानी मुस्लिम अभिजनों और ब्रिटिश शासकों का षड़यंत्र है। यदि हिंदी को प्रसारण की भाषा बनाना संभव नहीं है तो उसके अन्य भाषाओं के समानांतर प्रसारण की अनुमति दी जानी चाहिए। प्रसारण अधिकारियों द्वारा इसके विकृतिकरण को बरदाश्त नहीं किया जा सकता। इसके सटीक उपयोग और शुद्ध उच्चारण को सुनिश्चित करने के लिए शिक्षित एवं योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए। श्री रविशंकर शुक्ल द्वारा उठाए गए बिन्दुओं पर विधायिका में तीखी बहस हुई। इसका परिणाम हुआ कि रेडियो ने दिनों और दिशाओं के नाम परिवर्तित किए एवं अभिवादन

में 'आदाब अर्ज' का प्रयोग करना आरम्भ किया।

1945 में राजेन्द्र प्रसाद ने आल इंडिया रेडियो और हिंदी साहित्य सम्मेलन के बीच मध्यस्थता का प्रयत्न किया। उन्होंने रेडियो के अधिकारियों से उनकी भाषा नीति में परिवर्तन के सबूत के तौर पर उनके प्रसारण प्रारूपों को भेजने का आग्रह किया। उन्हें बोखारी द्वारा 18 प्रारूप उपलब्ध करवाए गए।

बोखारी के अधीन आल इंडिया रेडियो की भाषा नीति की तीव्र आलोचना हुई। 1946 की अंतरिम सरकार में श्री वल्लभभाई पटेल ने गृहमंत्री एवं सूचना प्रसारण मंत्री के रूप में पदभार ग्रहण किया। बोखारी ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया।

एक आई.सी.एस. अधिकारी पी.सी. चौधरी ने ऑल इंडिया रेडियो के महानिदेशक का पदभार ग्रहण किया। वे संस्कृत हिंदी और प्राचीन इतिहास के जानकार थे। हिंदी के कई विद्वानों से चर्चा के बाद उन्होंने रेडियो की भाषा नीति के निर्धारण के लिए डॉ. नगेन्द्र की नियुक्ति परामर्शदाता के रूप में की। डॉ. नगेन्द्र रेडियो की पूर्व भाषा नीति के मुखर आलोचक रहे थे। उन्होंने परीक्षाओं के माध्यम से सही हिंदी लिखने में सक्षम प्रसारकों की नियुक्ति की व्यवस्था लागू की। सही उच्चारण के लिए उन्होंने उदघोषकों को स्वयं प्रशिक्षित किया। उर्दू शब्दों के उच्चारण के लिए उन्होंने उर्दू ध्वनियों को उनके मूल रूप में प्रस्तुत करने पर जोर दिया। सलाहकार के रूप में अज्ञेय की नियुक्ति के बाद एक नया कोश प्रकाशित किया गया। अज्ञेय ने इसके निर्माण में क्षेत्रीय भाषाओं की संस्कृत स्रोतात्मकता का आधार ग्रहण किया जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 351 में विहित किया गया था।

1941 ई. में ऑल इंडिया रेडियो ने विशेषज्ञों के एक पृथक समूह से हिंदुस्तानी में

गरिमापूर्ण प्रसारण के संदर्भ में उनकी राय पूछी। विशेष रूप से यह जानने पर जोर था कि क्या हिन्दुस्तानी में किए गए प्रसारण को देश के बहुसंख्यक लोग समझ पाएंगे। बाम्बे टॉकीज के विशेषज्ञों ने रेडियो में प्रयुक्त भाषा के प्रति अपनी सहमति जाहिर की। उनके अनुसार रेडियो के विपरीत फिल्मों को बाजार की शर्तों पर खरा उतरना होता है। बॉक्सर ऑफिस पर उनकी सफलता उनकी भाषा को अधिकांश लोगों द्वारा समझे जाने पर ही निर्भर है। कठिन और अबूझ भाषा सुनने के लिए वे मेहनत से कमाए आने खर्च करने से रहे। भाषा की समझ से भी अधिक महत्वपूर्ण उसका प्राधिकार था, क्योंकि बहुत से लोग जो अच्छी तरह से इसे नहीं बोल सकते, समझ लेते हैं और गरिमाहीन भाषा के प्रयोग पर आपत्ति प्रकट करते हैं। हिंदी सिनेमा की भाषा के अध्ययन स्रोत रेडियो की भाषा के स्रोतों से भिन्न हैं। विशेषरूप से शुरूआती रेडियो प्रसारणों की स्क्रिप्टें मौजूद नहीं हैं।

इसके लिए हमें आधिकारिक प्रलेखों, संसदीय बहसों, अखबारों और चर्चों पर निर्भर होना पड़ता है। फिल्मों के मामले में आधिकारिक भाषनीति की कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती पर फिल्मों स्वयं एवं उनके सम्बन्ध में फिल्मी पत्रिकाओं में की गई टिप्पणियाँ प्रमाणस्वरूप हमें उपलब्ध हैं। रेडिओ एवं फिल्मों की भाषा में बुनियादी फर्क भाषा के प्रति राज्य और बाजार के नजरिए का फर्क है। फिल्मों की भाषा कथा एवं फैंटेसी के तत्वों से सम्बद्ध है, जिसमें भाषाई विविधता की संभावना अधिक है। इन तथ्यों के बावजूद फिल्मों की भाषा को गढ़ने के पीछे सक्रिय विचारधारा सम्बन्ध कार्यसूची को निरस्त नहीं किया जा सकता। फिल्मों की भाषा के पीछे एकमात्र लाभ का उद्देश्य ही संचालक शक्ति नहीं था। बाम्बे टॉकीज में

भाषा विशेषज्ञों की सेवाएं भी ली जाती थीं। ये विशेषज्ञ जो उत्तर भारत से सम्बद्ध थे, कलाकारों को शब्दों का सही उच्चारण सिखाने के अलावा स्क्रिप्ट भी तैयार करते थे। इस तरह फिल्मों में साहित्यिक मानकों का पालन किया जाता था।

1955 में, ख्वाजा अहमद अब्बास ने, जो एक लेखक और फिल्म निर्देशक थे, ने दावा किया कि राष्ट्रभाषा के प्रसार में फिल्मी संवादों का योगदान किसी व्यक्ति अथवा संस्था से ज्यादा है। वाणिज्यिक अवश्यताओं से प्रेरित फिल्मों की भाषा एक कृत्रिम भाषा थी, जो रमणीय, लालित्यपूर्ण और साहित्यिक नहीं थी, उसमें उर्दू और हिंदी शब्दों का सहज मिश्रण था। मिश्रित एवं बाजारु होने पर भी, यह भाषा कलकत्ता से लेकर बम्बई इलाहाबाद से लेकर लाहौर तक और कुछ हद तक मैसूर और रंगून तक में समझ ली जाती थी। इसी भाषा के कारण यह संभव हो पाया कि बम्बई का एक गुजराती निर्देशक बंगाली नायक और तमिल नायिका को लेकर फिल्म बनाए और दोनों एक पंजाबी लेखक के लिखे संवाद जो हिन्दुस्तानी में हों, बोलें।

हिंदुस्तानी जबान की बात करते हुए भी अब्बालस अहले जबान (भाषा के लोग) को सम्बोधित थे। इसका तात्पर्य था दिल्ली और उसके आसपास के लोग जिनकी भाषा को रमणीयता की दृष्टि से आदर्श माना जाता था। फिल्मी लेखकों को भाषा के सौंदर्य सूक्ष्मता और हार्दिकता के उदाहरण प्रस्तुत करने पड़ते थे। इस प्रक्रिया में उन्हें साहित्यिक मानकों का पालन भी करना पड़ता था। फिल्मों की भाषा में सम्पूर्ण भारत की बोलचाल की भाषा बनने की संभावना विद्यमान थी। लक्ष्य था कि फिल्मों की भाषा का लोग व्यवहार करें, न कि लोगों की भाषा फिल्मों की भाषा बने। भाषाई समझौते एवं

अशिक्षित दर्शकों की चर्चा के बावजूद भाषा की अवधारणा और उसका मानक साहित्यिक ही रहा।

फिल्मी संवादों के मूल्यांकन के प्रमाण तत्कालीन फिल्मी पत्रिकाओं की समीक्षाओं में उपलब्ध होते हैं। उस समय की एक फिल्मी पत्रिका 'फिल्म इंडिया' में समीक्षाओं के माध्यम से सरल एवं सर्वसुलभ भाषा की माँग रखी जा रही थी। इसके संपादक एक महाराष्ट्रीय सज्जन श्री बाबूराव पटेल थे। श्री पटेल की तरह ही फिल्मों के अधिकांश प्रायोजक, निर्माता एवं निर्देशक हिंदी भाषिक समुदाय के सदस्य नहीं थे। उनमें भाषा सम्बन्धी शैक्षणिक योग्यताओं का भी अभाव था। अधिकतर कलाकारों का सम्बन्ध भी हिंदी भाषी क्षेत्र से नहीं था। हिंदी फिल्मों के निर्माण केन्द्र कलकत्ता, पुणे, बम्बई और मद्रास में अवस्थित थे। शुरूआती दौर की फिल्मों की भाषा सहज और लोकप्रिय उर्दू थी। इसी को हिन्दुस्तानी कहा गया। बाबूराव पटेल हिन्दुस्तानी प्रयोग में पंजाबी, मराठी, बांग्ला और एंग्लो इंडियन उच्चारण से बचने के आग्रही थे। शुद्ध उच्चारण के लिए दिल्ली और लखनऊ में प्रचलित उच्चारण को मानक माना जाता था। फिल्मों की भाषा के लिए मानकीकृत एवं सरल रूपों के आग्रह ने फिल्मों को कतिपय विशिष्ट अभिव्यक्ति अवसरों से आरम्भ में वंचित कर दिया। बाद के दशकों में इसकी भरपाई हुई, जब आंचलिकता एवं स्थानिकता का दबाव फिल्मों की भाषा पर भी पड़ा। प्रयोगधर्मी निर्देशकों ने नए-नए एवं क्षेत्रीय कथानकों पर रचनात्मक एवं फार्मूला रहित फिल्मों का निर्माण

किया। इन फिल्मों की भाषा आंचलिक प्रभावों से सम्पन्न एवं जातीय चेतना से सम्बद्ध थी। इसके फलस्वरूप फिल्मों की भाषा कृत्रिमता का परित्याग कर यथार्थ के करीब पहुँचने में सक्षम हुई। प्रतिनिधिमूलक कला के रूप में फिल्मों की अर्थवत्ता में अभिवृद्धि के साथ भाषिक स्तर पर भी वे जनजीवन के करीब आईं। कलारूप में सिनेमा का यह दावा रहा है कि विश्व में उपलब्धता की सीमा को परिभाषित करने की असाधारण क्षमता से वह सम्पन्न है। इसके विपरीत हिंदी सिनेमा गीतों, नृत्यों, मजाकिया दृश्यों, समझी-बूझी भाषा निरपेक्षता, क्षेत्रीयता, प्रांतीयता और वर्ग चेतना की भावनाओं से जड़ विहीनता की सीमा तक उदासीनता का शिकार रहा है। भारतीय लोकप्रिय सिनेमा की जड़ें एक स्वनिर्मित सपनों की दुनिया में रही हैं। दूसरी दुनियाओं में होने एवं अनुभव करने को इनमें आने में काफी समय लग गया। इन इतर दुनियाओं की वास्तविकताओं के साथ इनमें बोली जानेवाली भाषाओं के लिए भी फिल्मों में जगह धीरे-धीरे बनती गई। आकाशवाणी की हिंदी एवं फिल्मी हिंदी का अंतर सरकारी आदेशों और फंतासी की दुनिया का अंतर है। जनसंचार के माध्यमों पर सरकारी नीति एवं बाजार की मांगों के अनुरूप बदलने का दबाव रहता है। भाषा की विविध प्रयुक्तियों एवं प्रकारायात्मक भूमिकाओं पर इस परिवर्तन की मांग भिन्न प्रकार से घटित होती है। उपर्युक्त विवेचन इसी तथ्य की ओर संकेत करता है।

संपर्क : 9903700542

भूमंडलीकरण, संस्कृति और पूँजीवाद

डॉ. कैलाशनाथ पाण्डेय

भूमंडलीकरण और कोरोना वायरस - इन दोनों को फिलवक्त जीवन जीने की परमपरागत लय और पाठकों को बदल दिया है। वस्तुतः यह एक नई विश्वस्थिति पैदा हुई है। इसे हम 'उत्तर आधुनिक स्थिति' भी कह सकते हैं, -

“यों इस विश्वकृत गाँव में ही,
है हमारा एक देश,
जहाँ माँएँ हैं,
बहने हैं
बूढ़े बाप और बूढ़े भाई हैं,
जिनकी एड़ियों में है बिवाइयाँ,
जिन्हें देखने के लिए,
हमारी आँखों में अपनापन नहीं रहा शेष,
आँखों पर हमने चश्मा चढ़ा लिया है,
जो उतना ही देखता है,
जितना हमारा पेट....।”

निश्चित रूप से यह एक गैर मानवीय स्थिति है। बहरहाल, लोगों का कहना है कि भूमंडलीकरण और कुछ नहीं, बल्कि अमेरिकी पूँजी का उग्र भूमंडलीकरण है। उसने व्यक्ति जीवन से लेकर शहराती संबंधों पर गहरा घातक असर डाला है। पूँजी और बेतहाशा पैसा कमाने की गंदी होड़ समाज में इसी ने पैदा किया है। फल हुआ है, एक ओर जहाँ शहरों में सम्बल निर्वहन में सफ़ाख सन्नाटा पसरा हुआ है, वहीं गाँवों में भी बिलासिता परस्पर राग-द्वेष का सघन कुहासा-कोहरा, अंधेरा और धुंध व्याप्त हो गयी है। कोरोना वायरस भी परस्पर छीज गए हैं। वह निपट अकेला बेतहाशा दिशाहीन हो बौड़ियाता भाग रहा है। आज आदमी धन कमाने की होड़ में तंग-दिली और तंग-नजरी का शिकार हो गया है। भूमंडलीकरण ने बोली-बानी की नफासत, पहनने-ओढ़ने की नखरें वाली रवायतें, तीज-त्योहारों, नैतिक मूल्य, सभ्यता-संस्कृति के मुलाहिजे, उत्साह, जीवटता, कर्मठता, शाइस्तगी और मुहज्जबखातिरनशी - इन सभी का मूस की तरह कुतुर-खदर कर शनैः-शनैः समूल खात्मा कर दिया है। अर्थात् भूमंडलीकरण की वजह से मानवीय मूल्य लगातार टूट रहे हैं। पारस्परिक सम्बन्धों में दरार निरंतर चौड़ी होती जा रही है, भौतिकवादी अपसंस्कृति का प्रसार लगातार बढ़ता जा रहा है। जीवन मूल्यों के प्रति आस्था घटी है। इंसान के भीतर का आदमी अपने भीतर बैठे अच्छे इंसान को टटोल और खोज-हेर रहा है। जड़ता का शिकार आदमी अपने कर्तव्यबोध से विमुख हुआ है। सम्प्रति सपने और सच के बीच संघर्ष और कशमकश चल रही है। स्थिति अमूर्त और अबूझ हो गयी है। उत्तेजना और तनाव बढ़ा है। रात जैसे मुर्दाघर बन गयी है। व्यक्ति के भीतर आकस्मिक खालीपन बढ़ा है। अनिश्चितता और संभावनाओं के मौजूदा

दौर में भूमंडलीकरण ने हमारे इतिहासबोध, सांस्कृतिक पहचान, पूर्वजों के साथ जुड़ी ललक - सभी कुछ समाप्त कर दिया है। आज जीवन की विसंगतियों से उत्पन्न क्षोभ, निराशा, स्वप्न भंग से उपजा आक्रोश, मृत्युबोध, मानसिक कुंठा - यानी सभी कुछ न केवल भयावह अपितु विश्वासघाती बन कर जहरीले नाग की तरह फुंफकार रहे हैं।

वस्तुतः भूमंडलीकरण एक अवधारणा (Conception) है, एक तरह की विचारधारा (ideology) है। अंग्रेजी में इसे 'Globaligation' कहा जाता है। Globe का अर्थ होता है - 'भूमंडल' और 'Globe' का अर्थ होता है 'सार्वभौम' 'व्यापक' या 'सार्वत्रिक' यहाँ कल्पना करने वाले ने पूरी धरती को Globalvillage यानी पूरी दुनिया, एक परिवार या विश्वग्राम कहा है। वस्तुतः इसकी कोई ठोस या निश्चित परिभाषा 'पेडन्यूज' की तरह नहीं बन पाई है। यह निखालिस एक संकल्पना (concept) है, मिथक है या यथार्थ - बहुत कुछ भरोसे के साथ नहीं कहा जा सकता। कई लोग पूरी धरती को एक गाँव के रूप में देखने की कल्पना को खाँटी 'बुद्धि-विकास', कुछ लोग, 'हँसी-ठिठोली' तो कुछ लोग 'तफर्सज' मानते हैं। बहरहाल जो भी हो, भूमंडलीकरण तो हमारे मन की बारी में लगभग चार दशक पुराना मजबूत साख वाला गझिन झझोर दरख्त के रूप में खड़ा हो गया है। इस शब्द के प्रयोग के दिन-दिनांक की ठीक-ठाक जानकारी मुझे पता नहीं है, किंतु कहा जाता है कि उदारीकरण के दौर में यह शब्द इस कल्पना के साथ हमारे यहाँ सूचना प्रौद्योगिकी की क्रांति के फलस्वरूप आया कि 'विश्वग्राम' में सूचना क्रांति के कारण संपूर्ण विश्व सिमट कर 'एक' हो जाएगा। फासले मिटेंगे, मेल-मिलाप बढ़ेगा। ज्ञान और संस्कृति के द्वार

खुलेंगे, धरती की प्रतिभाएँ एक-दूसरे से जुड़ेंगी, रहन-सहन की एक तरह की बोली को बढ़ावा मिलेगा। विश्व की सारी सूचनाएँ आप की जेब में हो जाएँगी, भौतिक विविधता मिटेगी। पूरी दुनिया एक-दूसरे की कला, भाषा, संस्कृति, खानपान, परंपरा, सभ्यता, तहजीब-तमहुन और शूर को जानेगी, बिना छल-कपट, संशय, राग-द्वेष के परस्पर भाईचारा धरती पर बढ़ेगा, सबका कल्याण होगा।

किन्तु, इस तरह की विश्व कल्याण की उत्तम कल्पना तो भारत में वैदिक काल में ही की गई थी। वैदिक चिन्तकों ने तो 'बसुधैव कुटुम्बकम्' को मूर्त रूप देने का प्रयास बहुत पहले ही शुरू कर दिया था। भारत, बहुत पहले से ही उच्च-उत्कृष्ट संस्कार-व्यवहार और मानवीय संवेदना-प्रधान ऋषि-मुनियों और महर्षियों का देश रहा है। यहाँ भौतिक और क्षणिक सुख, पैसा-प्रतिष्ठा को राख माना गया है। उसकी जगह वेदना, संवेदना और मानवता आदि को जीवन का मूल ध्येय और धर्म बताया गया है। खुशी, उपकार और संतोष सेवा व्यक्ति की मूल पूँजी और समृद्धि रहे हैं। यहाँ पूरी धरती को अपना कुटुम्ब-कुनबा (family, household या kinsfosk), स्वजन और अपना समूह स्वीकार किया गया है। यह अपना है, यह पराया है, जैसी संकुचित भावना का भारतीय जीवन दर्शन में निषेध है, बल्कि पूरी धरती (भूमंडल) के लोग अपने ही हैं, जैसे ऊँची-उदात्त भावना यहाँ हमेशा पल्लवित रही है, -

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।

उदारचरितानां तु बसुधैव कुटुम्बकम्॥

ऋग्वेद में उल्लिखित है, - **ऐं कसद् विप्राः बहुधावदन्ति।** यही नहीं, यहाँ यह भी कामना की गई है कि, - **आनो भद्राः क्रतवोयंतु विश्वतः**

अर्थात् श्रेष्ठ और अच्छे विचारों का प्रवाह हमारी मानस भूमि में अजस्र बना रहे। यही, क्यों कालान्तर में संस्कृत के चर्चित नाटककार आदरणीय भवभूति ने भी व्यक्त किया है - **कालोह्य निरवधिं विपुलाच पृथ्वी** आशय यह कि काल का कोई परिमाण नहीं होता है और पृथ्वी विषाक्त है। इधर, आधुनिक भारतीय चिन्तकों में स्वामी विवेकानन्द का विश्वधर्म और श्री अरविन्द का **Ideal of Human Unity** उक्त कल्पना का बहुत पहले से किया गया विस्तार है। यही क्यों, विश्व कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी पूरी धरती को एक घोंसला माना था। उनका आदर्श वाक्य था - **यत्र विश्वंभवत्येक नीडम्**। कुल मिलाकर भूमंडलीकरण के माध्यम से वैश्विक स्तर पर भौगोलिक दीवारों को तोड़कर एक-दूसरे के पार देखने के लिए 'एक विशाल खुली खिड़की बनाने का प्रयास हो रहा है।

शब्द-संस्कृति के पैरोकार, मीडिया, बाजार और भूमंडलीकरण के गहरे विमर्शकार डॉ. गिरीश मिश्र इस समय के बड़े लेखक हैं। भूमंडलीकरण के सम्बन्ध में वे लिखते हैं (1) भूमंडलीकरण कोई नई अवधारणा नहीं है। न ही भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अकस्मात् आ धमकी है। हाँ, वह कब आरंभ हुई, उसको लेकर काफी विवाद चल रहा है। कुछ लोगों का मानना है कि किसी-न-किसी रूप में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया मानव इतिहास के आरंभ से ही चल रही है और वह समझ के साथ त्वरित होती गयी है। उदाहरण के लिए प्रतिष्ठित 'फॉर ईस्टर्न इकॉनामिक रिव्यू' के पूर्व संपादक नयन चन्दा के अनुसार बोरोबुदूर मन्दिर का निर्माण भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के तहत 840 ई. में होने का प्रमाण है। सुदूर भारत से लाकर बौद्ध धर्म की प्रवर्तक की शिक्षाओं को हजारों जावा वासी कलाकारों और मजदूरों ने

मन्दिर के दीवारों पर उकेरा। विद्वानों के दूसरे समूह का मानना है कि भूमंडलीकरण पूँजीवाद के साथ जुड़ा रहा है। इस दृष्टि से उसका आधुनिकीकरण से गहरा रिश्ता रहा है। इसके विपरीत ऐसे भी लोग हैं, जो मानते हैं कि भूमंडलीकरण उत्तर औद्योगिकीकरण और उत्तर आधुनिकता का ही एक हिस्सा है और इस प्रकार वह एक नई घटना है।

(2) पुनः डॉ. मिश्र लिखते हैं कि वर्तमान भूमंडलीकरण की प्रक्रिया किसी-न-किसी रूप में पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के दौरान अंकुरित होने लगी थी। 15वीं-16वीं शताब्दी से आरंभ हुई प्रक्रिया आधुनिकीकरण और पूँजीवाद से जुड़ी रही है। इसलिए चारित्रिक रूप से वह अपनी पूर्ववर्ती प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न रही है। इधर, सिकंदर महान से लेकर चंगेज खाँ और नेपोलियन ने भूमंडलीकरण की दिशा में प्रयास किए। इनमें से प्रत्येक की कोशिश रही कि समस्त विश्व को एक ही सर्वोच्च शासक के अधीन लाया जाय तथा उसी के देश की राजधानी सभी निर्णयों का केन्द्र हो। ध्यान देने की बात है कि सिकंदर से चंगेज खाँ तक किसी ने भी विजित क्षेत्र की उत्पादन-पद्धति को खत्म कर पूँजीवाद के विकास का रास्ता साफ करने की कोशिश की।

(3) मोटे तौर पर इन विजेताओं का उद्देश्य पराजित क्षेत्रों की संपदा लूटना था - उनके जमाने में संपदा को पूँजी में रूपान्तरित करना सम्भव नहीं था, यानी लूट की दौलत से श्रम शक्ति, कच्चे माल और श्रम के औजार जुटाकर बाजार में बेचकर मुनाफा कमाने के उद्देश्य से पण्य वस्तुओं का उत्पादन करना संभव नहीं था, इसलिए लूटी गयी दौलत को उपभोग कर खर्च किया जाता, इमारतों और स्मारकों का निर्माण

कर अपनी शोहरत फैलाने की कोशिश होती थी या उसे तहखाने में रख दिया जाता था। नादिरशाह जैसा - हमलावार अपनी लूट को पूँजी में नहीं बदल सकता, जबकि इस्ट इंडिया कंपनी और उसके कर्मचारियों ने उसे काफी हद तक पूँजी के रूप में बदल दिया होता।

(4) उन्नीसवीं सदी के मध्य से पूँजीवाद एक विश्वव्यापी व्यवस्था बन गया और संसार के सब देश अपनी घरेलू उत्पादन पद्धतियों में अन्तर के बावजूद विश्व पूँजीवाद से कमोवेश जुड़ गए। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभ तक काफी त्वरित रही। माल पूँजी और लोगों का अन्तरराष्ट्रीय प्रवाह लगातार बढ़ता गया। बहरहाल कहना न होगा कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया त्वरित ही नहीं हुई, बल्कि उसका स्वरूप भी बदल गया।

(5) अंत में डॉ. मिश्र के शब्दों में भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर के वैचारिक आधार को वाशिंगटन आम राय - जिसे कई लोग 'नव उदारवाद' या 'बाजार रूढ़िवाद' के नाम से जानते हैं - के रूप में जाना जाता है। इस पद का सृजन जॉन विलियम्स ने 1990 में किया था।

उधर, गांधीवादी विचारक डॉ. सच्चिदानंद सिनहा का भी मानना है कि भूमंडलीकरण कोई नई परिघटना नहीं है, बल्कि कुछ लोग सदियों के इतिहास से जोड़ते हुए इसे मात्र एक नए दौर के रूप में उद्घाटित करते हैं। उनका मानना है कि भूमंडलीकरण दरअसल, उदारीकृत अर्थव्यवस्थाओं का आदर्श लक्ष्य है, जो किसी भी देश के भीतर और बाहर के सभी उद्योगों के बीच प्रतिस्पर्धा के आड़े आने वाले सभी अवरोधों को समाप्त करना चाहता है। भूमंडलीकरण को वे मानवीय सम्पदा के लिए सबसे बड़ी चुनौती मानते हैं। इतना ही नहीं, डॉ. सिनहा भूमंडलीकरण

को अनिवार्य दिवालियापन और विश्वव्यापी आर्थिक संकटों की संभावना से भी जोड़ते हैं।

बहरहाल 'विश्वग्राम' की कल्पना कितनी सार्थक और साकार हुई है, तो उस कृति के पाठक देख समझ रहे हैं, बल्कि कहिए कि विश्व में संवादहीनता की स्थिति पैदा हो गई है। आज का तथाकथित 'विश्वग्राम' क्रूर यथार्थ का शिकार हो गया है। पूरी दुनिया में परस्पर अलंघ्य दूरी पैदा हो गयी है, जिसे पाना बहुत सरल-सहज नहीं लगता। पारस्परिक सम्बन्ध ठिठक गए हैं। भूमंडलीकरण ने व्यक्ति के भीतर के रचनात्मक डिवाइस को सोख लिया है। विद्रूपता, गलाजत, विकृति और सड़ांध समाज में पलथी मारकर बैठ गए हैं। खुलासा यह कि यह 'विश्वग्राम' बेमेल सम्बन्धों का मजमा बन गया है। भारतीय बहुलता की अटूट निरंतरता को धक्का लगा है। भारतीय मूल्यों का अवमूल्यन (devaluation) हुआ है। मैं समझता हूँ, भूमंडलीकरण एक तरह की साजिस और जुंभिश है। भूमंडलीकरण की खुली खिड़की से जो हवा भारत में आई, उसने कई तरह की अपूरणीय क्षति पैदा की। घर के भीतर का आर्थिक अनुशासन टूट गया। वस्तुतः पश्चिम ने देखा कि भारत विश्व का बहुत बड़ा बाजार बन रहा है, सो उन्होंने उसे अपने काबू-कब्जे में करने के लिए एक नहीं, कई तरह की चालें चलीं। इन्होंने सूचना तकनीक के माध्यम से अपने उत्पादों का प्रचार शुरु किया। विज्ञापनों ने उसमें घी का काम किया। अपने उत्पाद बेचने के लिए दर्शकों के मन में इन्होंने बाजारी विज्ञापन नाना तरह के छल-कपट और छद्म घात किए। आबाल-वृद्ध-सभी के मन में अपनी वस्तुओं की खरीद के लिए आकर्षण पैदा किया। संपूर्ण देश को इन्होंने अपना उपभोक्ता बनाया मनचाही वस्तु न खरीद पाने के कारण युवा वर्ग अपराध की दुनिया में चला

गया। यह इनकी सुचिन्तित व्यापार-नीति थी - एहसास करना और फिर माल असबाब बेचना। देसी वस्तुओं को नाकाबिल बता, अपने उत्पादों को कुछ कम कीमत पर बेचना - यही इनकी फितरत (disposition) बन गयी। परिणाम हुआ, पश्चिम के सारे उत्पाद, भारत के महानगरों से लेकर गाँव की गली-खोरी अर्थात् छोटे-बड़े टाउन, कस्बों तक बर्रे की तरह छपर गए। **“बंबई से आया मेरा दोस्त, दोस्त को सलाम करो, खाओ, पिओ मौज करो, दिन को आराम करो”** अर्थात् कमाओ कम, चैन, ऐश, मौज तथा उपभोग ज्यादा करो कि नीति और कल्चर के पोषक इस भूमंडलीकरण ने भारत में उपभोक्तावाद की गहरी जड़ें रोप दी है। भारतीय मीडिया, धर्मान्धता, व्यावसायिकता, बाजारवाद, दोमुँहापन और भूमंडलीकरण की उपपूँजीवाद तथा उपभोक्तावादी मानसिकता ने व्यक्ति के भीतर की संवेदना और उसकी तपिश-ताप को मारा। दरअसल, पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजी की ताकत से ही मीडिया का संचालन होता है। इस व्यवस्था में मीडिया के अपने आप में एक व्यवसाय बन जाने की स्थिति बन जाती है। यहाँ परदे की आड़ में कॉरपोरेट लॉबिस्ट और दलाल (broker) स्टेनोग्राफरों की तरह व्यवहार करते हैं। यहाँ उसूल, मूल्य चरित्र, आदर्श, नियम-कानून और आचार-संहिताएँ बेकार हो जाती हैं। कभी लेनिन ने कहा था, “पूँजीवाद का ही चरम रूप साम्राज्यवाद है”। आज यहाँ उपभोक्ता संस्कृति की मुक्त बाजार व्यवस्था ने पूँजी केन्द्रित व्यवस्था की गहरी नींव डाली है। इतना ही नहीं, शिक्षा तंत्र का भी फ्रैगमेंटेशन हुआ है।

कई लोग कहते हैं, कि ग्लोबलाइजेशन के द्वारा ‘पश्चिमी संस्कृति’ को ही भूमंडलीय संस्कृति बनाकर सब जगह फैलाया जा रहा है।

वस्तुतः भूमंडलीकरण को लेकर प्रारंभ में बड़ी उच्च-उदात्त कल्पना की गई थी। मीडिया-विशेषज्ञ डॉ. उपासना पाण्डेय उदारीकरण और निजीकरण का तार्किक परिणाम माना जा सकता है। ग्लोबलाइजेशन की नीति के अन्तर्गत आर्थिक कार्य कुशलता को बढ़ाने के लिए प्रस्तुत अर्थ व्यवस्था को विश्व के किसी भी हिस्से की आर्थिक गतिविधि से साथ जोड़ने की छूट दी जाती है, यदि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए कच्चा माल विश्व के किसी एक हिस्से में सस्ता मिले, श्रम दूसरे हिस्से में सस्ता पड़ता हो, पूँजी और संयंत्र किसी तरह से उसी हिस्से में सुलभ हो तथा बाजार विश्व के भिन्न-भिन्न हिस्सों में दूर तक फैले हों तो ग्लोबलाइजेशन की नीति इन सभी का एक साथ सेवाओं का जाल बिछाने तक के कार्य को विश्व के किसी भी कोने में सम्पन्न किया जा सकता है, ताकि उससे कम-से-कम आए, उसकी गुणवत्ता उन्नत हो और जहाँ उससे अधिकतम लाभ हो, वहाँ उसे सम्पन्न कराने की सुविधा प्राप्त हो। लाभ की प्राप्ति के लिए ग्लोबलाइजेशन बहुराष्ट्रीय निगमों के विस्तार पर बल देता है। एक जैसी वस्तुओं और सेवाएँ ही ग्लोबलाइजेशन का लक्ष्य है। किन्तु, हुआ इसके ठीक उलट। वैश्वीकरण की नीति से तमाम तरह के खतरे बढ़े। पूरी धरती सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से तीन भागों में बँटी। नव साम्राज्यवादी शक्तियों ने पूरी दुनिया में बाजार बनाकर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अधिक से अधिक धन कमाने की गला काट प्रतिद्वंद्विता बढ़ी। समाज में अनैतिकता-असामाजिकता बढ़ी। परंपरागत मूल्य ढहे। चारित्रिक पतन चरम पर पहुँचा। अर्थ-आधारित छद्म और नकली जीवन शैली को लोगों ने ओढ़ा। समाज मतलबी और आत्मकेन्द्रित हो गया। बाजार व्यक्ति के ऊपर

इस तरह भारी पड़ा कि वह अपने परिवेश से पूरी तरह कटी व्यवस्था का शिकार हो, पतन का निवाला (mounfull) और लुक्मा बन गया। भूमंडलीकरण की वजह से अराजक बाजार की घुसपैठ जीवन के हर क्षेत्र में हुई। जीवन में भागमभाग बढ़ी। शहरीकरण का असीमित विस्तार हुआ। यांत्रिकता अपने दुष्परिणाम के साथ सामने आयी। समाज में पूँजी का महत्व बढ़ा। संभवतः इसीलिए स्व. प्रभाष जोशी ने कहा था कि वैश्विक गाँव दरअसल पूँजी का भूमंडलीकरण है। समाज में मिलबाँट कर खाने की भावना का लोप हुआ, क्योंकि उपभोक्तावादी संस्कृति समाज में बुरी तरह हावी हो गयी।

वस्तुतः वैश्वीकरण ने पूँजी के प्रति व्यक्ति के भीतर ललक-लालसा बढ़ाई। पूँजी और बाजार सगोतिया बने। बाजार ने भोगवाद (epicureanism) को जन्म दिया। भोगवाद ने अलगवावाद पैदा किया, फलतः समाज, परिवार सब टूट कर एकत्र हो रहे हैं। बाजार ने समाज में use and through अर्थात् प्रयोग, उपयोग-उपभोग करने और फिर बेमुरौवत फेंको की भावना पैदा किया। इस कुत्सित भावना की चपेट में छोटी-बड़ी वस्तुओं के साथ स्त्री भी आयी। समाज में स्त्री के प्रति सम्मान की जगह भोगासक्ति (sex-indulgence) की गंदी भावना पनपी और विकसित हुई। आज भोगवादी प्रकृति के कारण ही स्त्री-सम्प्रदाय मनचलों-अधमों की कुदृष्टि का शिकार है। लिखते समय शर्म आती है कि पूज्य-पवित्र स्त्री को लोग, 'कच्चा माल' कहते हैं। उससे बड़ा पतन भारतीय समाज का और क्या हो सकता है? भूमंडलीकरण की संस्कृति में स्त्री देह महज हथियार है। सच तो यह है कि भूमंडलीकरण की पैदाइश, नव पूँजीवाद, सम्पूर्ण धरती को एक शौपिंग कॉम्प्लेक्स में बदल रहा

है। यहाँ पानी, सूखाफल, डिब्बाबंद भोजन के साथ औरत की देह भी जीन्स की तरह बिक रहा है। उधर भूमंडलीकरण ने भारतीय भाषाओं की बहुलता को भी नष्ट किया है। बाजारवाद चूँकि बाजार की ही भाषा को समझता और स्वीकार करता है, अतः उग्र बाजारवाद के चलते मातृभाषाएँ विलुप्त और नष्ट हो रही हैं। वस्तुतः जिस भाषा की पुख्ता जमीन पर साहित्य का मकान खड़ा होता है, उसकी नींव और विपुलता को यह भूमंडलीकरण नष्ट कर रहा है। हमारे समकक्ष में हमारी भाषाएँ ध्वस्त हो रही हैं। उनकी लिपियों को प्रतिस्थापित (replaced) करने का प्रयास हो रहा है। भूमंडलीकरण की केन्द्रीय भाषा अंग्रेजी का पराश्रय-पल्लवन और पोषण हो रहा है। उधर, भारतीय भाषाएँ दुर्दशा की शिकार हो रही हैं। विदेश-गमन, बड़े वेतन-पैकेज जैसे आर्थिक सफलताओं की कुंजी अंग्रेजी के हाथ में मान लिया गया है। पश्चिम का यह साफ संदेश है कि विश्व में भारत को यदि आर्थिक महाशक्ति बनना है तो अंग्रेजी की माला-मनका उसे जपनी होगी। फल हुआ है, भारत में अंग्रेजी संभ्रान्त (respectable) वर्ग की भाषा बन गयी है। परिणामतः भारत की विलक्षण पहचान, अस्मिता, उन्नत सांस्कृतिक धरोहर और विपुल साहित्य संपदा से लदी भारतीय भाषाएँ विलुप्ति के कगार पर खड़ी हो गयी है। मुझे याद है कि पश्चिमी जर्मनी की एक पत्रिका में एक बार भारत की 'राष्ट्रभाषा विवाद' के संबंध में एक लेख छपा था कि - इतना बड़ा देश है, भारत। लगभग 75 करोड़ (उस समय इतनी ही आबादी थी) भारतीय हैं, उतनी प्राचीन सभ्यता है, लेकिन कहाँ हैं, - 'भारतीय'? उस लेख में उस सवाल को कई बार उठाया गया था तथा सवाल उठाने के अंदाज में ही, वहीं उत्तर भी दे दिया गया था कि -

भारतीय तो हैं, लेकिन कोई 'भारतीय' नहीं है। खुलासा यह कि पहले से ही भाषाई-विवाद वाले भारत में भूमंडलीकरण ने कई तरह का भाषिक वितंडा (cavil) पैदा कर डाला है।

हिन्दी के चर्चित विचारक डॉ. राम सुजान अमर का मानना है कि आज के भूमंडलीय बाजार की सीमा में केवल आर्थिक पक्ष ही नहीं आ रहा है, बल्कि यह भाषा, साहित्य, कला, संस्कृति आदि को भी समेट रहा है। औपनिवेशिक काल के प्रत्यक्ष राज की जगह अब पश्चिमी साम्राज्यवाद हमारी सोच को विकृत एवं अस्मिता को विखंडित करके अपनी हुकूमत चलाने की कोशिश कर रहा है। भूमंडलीकरण के नाम पर जिस विश्वग्राम की गुलाबी तस्वीर पेश की जा रही है, वास्तव में वह पश्चिम की शर्तों पर शेष दुनिया के व्यक्तित्व हरण की साजिश है। एक व्यापक और सुचिन्तित रणनीति के तहत हमारी भाषा, साहित्य, कला एवं संस्कृति को पश्चिमी बाजार की जरूरत के अनुरूप ढालने का प्रयास किया जा रहा है ताकी उस आइने से वंचित होकर हम अपनी राष्ट्रीय पहचान भूल जाएँ एवं पश्चिम के भौतिक-सांस्कृतिक बाजार से आ रहे कचरे को ही हम अपनी समृद्धि एवं विकास का प्रमाण मान लें। भूमंडलीकरण के जरिए जारी उस प्रक्रिया से हम कई स्तरों पर रू-ब-रू हो सकते हैं। दुखद यह भी है कि उस उपभोक्तावादी पश्चिमोन्मुख वर्ग का विस्तार हो रहा है। इसलिए अगर सचमुच सांस्कृतिक भूमंडलीकरण का हम मुकाबला करना चाहते हैं तो हमें स्वयं बाजार के उन्माद से बचना होगा और अपनी भाषा-संस्कृति तथा आमलोगों से अटूट एवं आत्मीय रिश्ता बनाना होगा। औपनिवेशिक गुलामी में रहे हमारे जैसे देशों में किस चोर दरवाजे से हीनता-बोध घुस आएगा और हम कब पश्चिम की मानव विरोधी

चकाचौंध के शिकार हो जाएँगे, कहना मुश्किल है। इसलिए हमें विशेष तौर पर सचेत एवं सतर्क रहना होगा।

यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि भूमंडलीय पूँजी की उपभोक्तावादी संस्कृति ने भारत में भ्रष्ट संस्कृति का बीज वपन किया। भूमंडलीकरण ने भारतीय रुचि, बुद्धि-विचार, देसी संस्कृति, कला, रीति-रिवाज, धर्म-करम नैतिकता तथा शानदार परंपरा को हिन्दी और संस्कृति - दोनों ही उपयोगी ज्ञान से शून्य हैं। भूमंडलीकरण की ही वजह से भारतीय संस्कृति 'भ्रष्ट' या 'पेलिकन कल्चर' बन रही है। भारत 'बनाना स्टेट' बनने की दृष्टि में पश्चिमी संस्कृति के सापेक्ष भारतीय संस्कृति बंद दरवाजे की संस्कृति है। यहाँ की भाषाएँ वैचारिक जड़ता और सपाट नारेबाजी की शिकार हैं। यह भूमंडलीकरण की मुगलिया और सामंती सोच है। सच तो यह है कि भूमंडलीकरण सामंती मूल्यों को प्रश्रय देने वाली अवधारणा है। अभिव्यक्ति की पैनी और तीखी धार इनकी अंग्रेजी में ही है। भूमंडलीकरण वादी वर्ग भारत में बचपन से ही अपने बच्चों को अंग्रेजी की तोता रटत लगवा रहा है। यह वर्ग बचपन से ही अपने नादान नन्हें-मुन्हें की पीठ पर अंग्रेजी का पिट्टू लादकर उन्हें उनके स्वभाव के विपरीत, की सेज, पी ऐज इन पैरेट, रेन-रेन गो अवे, जैक ऐन्ड जिल तथा बाबा ब्लैकशिप, रटवाने में मस्त है। अंग्रेजी भाषा की रहनुमाई करने वाला यह वर्ग अपनी संस्कृति और परिवार से अबूझ अपने बच्चों को लाट साहब या स्टैण्डर्ड बनाने के चक्कर में अंग्रेजी विद्यालयों या छात्रावासों में ढकेलने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझता है। इस प्रकार विशाल भारतीय समुदाय के लिए चुनौती बने ये अंग्रेजी - पुत्र हमारी संस्कृति में मेझड़ापन का विकार पैदा करने में कोई कोर-कसर बाकी

नहीं रख रहे हैं। कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण की भोगवादी ऐय्याश संस्कृति ने सारे भारतीय प्रतीकों-धर्म, संस्कृति, रीति-नीति, आचार-व्यवहार, विश्वास, आस्था, विद्या, वास्तु, स्थापत्य कला, संगीत तथा पाक शास्त्र आदि को ध्वस्त करने का प्रयास किया है। वैश्वीकरण इन सभी को अपनी भौंडी सांस्कृतिक दासता में जकड़ना चाहता है। फलतः स्वदेश तथा स्वदेशी की भावनाएँ तेजी से रुखसत होती जा रही हैं। यहाँ एलियेनेशन और मूल्यहीनता बढ़ गई है। आजाद भारत का स्वरूप झटके से बदल रहा है। भारत में विकास एवं आधुनिकता के नाम पर भूमंडलीकरण के साथ पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का जो अंधड़-तूफान शहरों के अलावा देहातों में पहुँचा, उसने पुरानी मूल्य-व्यवस्था को खाक कर उसकी जगह शातिर और खतरनाक, मूल्यों, को जन्म दिया है। उसने गाँवों में सीधे-सादे और निश्चल लोगों को नाना तरह के लुभावने सब्जबाग और सपने दिखाकर एक श्रेष्ठ वर्ग खड़ा करने का प्रयास किया है। इस तरह यह भूमंडलीकरण हमारी मौलिक, डेलीकेसी तथा शाश्वत सांस्कृतिक परंपरा के ठोस और मूल्यवान तत्वों को विनष्ट कर रहा है। यहां एक टुच्ची संस्कृति पनप रही है। इसने भारतीय जन-जीवन, प्रकृति, मिथ और मुहावरे को तोड़ दिया है। एक दुर्निवार आकांक्षा सम्पृक्त, सुपरियारिटी कॉम्प्लेक्स से हम ग्रसित हो रहे हैं। आलोचक-चिन्तक डॉ. योगेन्द्र यादव कहते हैं कि यूँ भी विश्व-संस्कृति का विस्तार संस्कृति का दायरा बढ़ाता ही नहीं, सिकोड़ता भी है। भूमंडलीकरण के चलते कुछ भाषाओं का विस्तार हो रहा है तो अन्य भाषाएं मर रही हैं, कुछ जीवन शैलियों को दुनिया भर में अपनाया जा रहा है तो अन्य जीवन शैलियों का लोप हो रहा है। भूमंडलीकरण की चर्चा

करते समय हम अक्सर सिर्फ फहले पक्ष का जिक्र करते हैं, मानो उसकी कोई कीमत नहीं। मानो हाशिये पर धकेले जा रहे समुदायों, भाषाओं और संस्कृति की चिन्ता उनका काम ही न हो। यह नई विश्व संस्कृति, कुल मिलाकर विश्वभर में संस्कृति के लिए शुभ है या अशुभ? कुल मिलाकर सृजन अधिक होगा या विध्वंस? कितनी गहराई है - इस नई संस्कृति में? एक क्षण के लिए भूल भी जायें कि यह संस्कृति कहाँ से आई और किसका नाश कर रही है, लेकिन इतना तो पूछना ही होगा कि क्या यह संस्कृति दुनिया भर में व्यक्तियों और समुदायों को अपने अनुभव और मूल्यों को अभिव्यक्त करने का अवसर देगी?

भूमंडलीकरण के माध्यम से भारत में अंग्रेजी भाषा और उसकी संस्कृति में भारतीयता की कभी न खत्म होने वाली अटूट लय पर आँच आई है। सभी जानते हैं, हमारी संस्कृति भारतीय जीवन का रचनात्मक अनुवाद है, जबकि भूमंडलीकरण की पीठ पर बैठी आई पश्चिमी संस्कृति हिंसक और अनैतिक है। संवेदना-शून्य है। बहरहाल, भूमंडलीकरण का एक धातक असर हम पर यह हुआ है कि हमने पश्चिम की तहह हाई-फाई बनने के प्रयास में अपनी लोककला, लोकभाषा, देसी प्रतीकों, वाद्य-यंत्रों और तो और अपने विक्रम संवत् तक को भुला दिया। आखिर, इन्हीं में तो हमारी देसी लय बसती है। ये वाद्ययंत्र हमारी भारतीय लोक-संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। उनकी प्रत्येक झंकार और अनुसरण से भारतीयता टपकती है। पर, इन्हें देसी और बासी मान उपेक्षा के खानों में डाल दिया गया। पीढ़ी-दर-पीढ़ी शुभ कार्य निबाहते इन वाद्ययंत्रों को तथाकथित आधुनिक बनने की होड़ और दौड़ में हमने भुला दिया। ढोल, दमुवा, नगाड़ा, मशकबीन, करताल, सारंगी, पैजना, मंजीरा, ढोलक, झाल,

खाज, सुरमंडल शंख, तबला, मृदंग तथा धाधका आदि पारंपरिक वाद्ययंत्रों में, अंगरेजी रस में पगे, भूमंडलीकरण के मारे, इन बन्धुओं को वह आनंद नहीं मिलता, जिसकी अनुभूति इन्हें कांगोबांगो, जैसे पाश्चात्य भड़कीले वाद्ययंत्रों में होती है। देसी वाद्ययंत्रों से इन्हें ग्लानि और आत्महीनता महसूस होती है। यह वही देश है, जहाँ देसी वाद्ययंत्रों की मिश्रित सुरीली तान और वादियों में गूँजती थाप से राह चलता आदमी मुग्ध होकर सहसा रुक जाता था। हुड़के के साथ गायी जाने वाली, चामरी, तूरी और बाँसुरी से निकलने वाली लोकोत्तर और मार्मिक ध्वनि से गायों तक की थिरकन बंद हो जाया करती थी, ने ही वाद्य यंत्र आधुनिकता के ग्लैमर तथा उसकी गैलरी में मदहोश होकर घूमने वाले इन अंग्रेजी परस्तों को नीरस लगते हैं। भूमंडलीकरण से प्रभावित विदेशी राग पर होने वाले रांबा-सांबा-हाउ आर बोगे, यू आर आन दो बोगे, बोगी, बोगे-बोगे, बैंग, बैंग, बैंग, बैंग, इलेक्ट्रॉनिक स्टेडिंग प्याने तथा हाई-फाई सिस्टम यानी अंग्रेजी बैंड की धुन में जो शान और प्रतिष्ठा इन्हें मिलती है, वह इस देश में होने वाली रामलीला, नैटंकी, खयाल, भगत, विदेसिया, लोरकी, बिरहा या देसी नाट्य परंपराओं - यक्षगान, वीथिनाटकम्, उसके गायन, वादन या नर्तन में नहीं मिलती है।

इस तरह कुल मिलाकर भूमंडलीकरण के प्रभाव में आकर हमने अपनी लोक संस्कृति, लोक परंपरा, कलात्मकता, पहचान, संवेदना, वैचारिकता, भावभोध, जीवन दृष्टि - कुल मिलाकर अपनी सांस्कृतिक विरासत को टूँठ हो जाने दिया है। वस्तुतः भूमंडलीकरण के साथ भारत में आया आयातित पश्चिमी वैचारिक मॉडल कतई उपयुक्त नहीं है। उधर, भूमंडलीकरण की संस्कृति निरंकुश और परावलंबी बनाने वाली है। डॉ.

निर्मल वर्मा के अनुसार संत्रास और विपत्ति में कोई भी समाज या जाति अपनी जड़ों को ही टटोलती है। दरअसल, किसी भी जाति या समाज की आत्मा में अथवा उसके प्राण तत्वों में प्रवाह में उसकी संस्कृति या परंपरा अदृश्य लय की तरह घुली होती है। संस्कृति या परंपरा की यह लय ही किसी जाति या समाज की जीवन धारा को एक गति या स्वरूप प्रदान करती है। भूमंडलीय संस्कृति तो खंडित चेतना से उद्भूत है। इस संस्कृति में व्यक्ति-समाज, प्रकृति-व्यक्ति से अलग है। यहाँ का मानव अपनी स्वतंत्रता में अकेला है। इस संस्कृति में उनके धर्म एवं दर्शन की भी पैठ वहाँ नहीं है। वहाँ व्यक्ति चेतना और धर्म में चौड़ी खाई है। धर्म यहाँ केवल चर्च की वस्तु है, किन्तु अपनी देशी संस्कृति में - भूमंडलीय संस्कृति के ठीक विपरीत-धार्मिक अन्तर्दृष्टि, सांसारिक अनुभव, धार्मिक अनुष्ठान एवं व्यवहार परस्पर सम्बद्ध हैं। हमारी संस्कृति समग्र, अखंडित एवं संपूर्ण चेतना पर आधारित है। यह सतत् प्रवाहशील एवं निष्कलुष है। कुल मिलाकर हमारी संस्कृति धर्म-निरपेक्षता एवं समन्वय पर आधारित है। भूमंडलीकरण की सांस्कृति 'भोग दृष्टि' पर बल देती है। यह संस्कृति सामाजिक शोषण एवं विषमता का कारक मानी जाती है। किन्तु भारतीय संस्कृति, भोग दृष्टि, के बदले, साधन दृष्टि की पक्षधर है। आज हमारे सामने दो संस्कृतियाँ हैं - पहली वह, जो टूटे-फूटे, लुंज-पुंज, ज्ञान-विज्ञान के असंतुलन को दूर करने वाली, अनेकता में एकता का संदेश देने वाली तथा भूले-भटके रिश्तों को माला के दाने की तरह एक में पिरो देने वाली - ऊर्वर और पुरखा संस्कृति और दूकरी वह, जो मीठे मधुर सम्बन्धों को तोड़ देने वाली रक्त-रंजित, बंजर, बाँझ या बन्ध्या भूमंडलीकरण की संस्कृति। इतना ही जानिये एक शक्तिशाली

कम्युनिष्ट नेतृत्व वाले चीन तक में भूमंडलीकरण के झोंकों से राष्ट्रीय सांस्कृतिक मूल्य हिलने लगे हैं और वहाँ आज बार-बार पश्चिमी उपभोक्तावादी जीवन-शैली एवं सोच के प्रति लोगों को आगाह किया जा रहा है। इस प्रकार भूमंडलीकरण के अभियान का सांस्कृतिक मोर्चा भी पूरी तैयारी से खुल चुका है। भूमंडलीकरण बाजार अपने उपभोक्ताओं की चाहत वाली कला, साहित्य एवं संस्कृति की माँग शुरु कर चुका है और इसके लिए वैचारिक मुहिम भी चला रहे हैं।

इधर, भूमंडलीय पूँजी ने बाजार और सत्ता की मिलीभगत से मानवीय मूल्यों को ध्वस्त करना शुरु कर दिया। सत्ता पूँजी की गुलाम हो गयी। पूँजी ने एक तरफ अपने मुनाफे में कई गुना बढ़ोतरी की तो दूसरी तरफ उसके प्रभाव से सारे सम्बद्ध रिश्ते, नाते बिकाऊ होने लगे। सम्बन्धों का आधार अर्थ हो गया, नतीजतन रिश्ते-नाते टूटने-बिखरने लगे। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में बाजार ठीक प्रभुता मनुष्य और मानवता की शक्तियों को लील जाना चाहती है, कभी साम्राज्यवादी और फाँसीवादी ताकतें विध्वंस की लीलाएँ करती थीं, लेकिन उधर, बाजार एक जौ आगे बढ़ उनसे भी अधिक संहार करते लगा है। वस्तुतः उस मूल्यमूढ़ और प्रतिस्पर्धी समय में पूँजी विज्ञापनों को खींच रही है, उनका पोषण-पल्लवन कर रही है। उधर, अर्थ-प्रधान उपभोक्ता मूलक समय का बेजी लाभ लेकर बाजार उपभोक्ता का अनुचित दोहन कर रहा है। इस बाजारीकरण से विचार शून्यता बढ़ी है। दूसरी ओर मानवीय चेतना के भीतर पूँजी गहरे घुसपैठ कर चुकी है। यह समय कॉरपोरेट पूँजी के फैलाव का है, जब कि पूँजी - पसार सक रहित व्यक्ति के लिए यह मनहूस वक्त है। अर्थ केन्द्रीयता से निर्मित समाज में पैसे का वर्चस्व और प्रभुत्व बढ़ा है। पूँजी ने

व्यक्ति की आकांक्षाओं, मूल्यों, संस्कारों और रुचियों को अनेक खण्डों में विभाजित-विखंडित कर दिया है। सम्प्रति पूँजीहीन व्यक्ति एकाकी और शिथिल हो गया है, -

“पैसा ही रंग रूप है, पैसा ही माल है,
पैसा न हो तो आदमी चरखे की माल है।
पैसे ही का अमीर के दिल में खयाल है,
पैसा ही का फकीर भी करता सवाल है।
पैसा ही फौज, पैसा ही जालो जलाल है,
जन्नत की सैर करते हैं, पैसे के जोर से।
पैसे ही का नजीर यह आदम मुलाम है,
पैसा ही रंग-रूप है,
पैसा ही माल है।”

बहरहाल, बाजार का गणित तेजी से बदला है। प्रतियोगितावादी सांस्कृति समाज में हावी है। अतः आज के उपभोक्तावादी तथा बाहरी और भीतरी दबावों से भरे समय में उपभोक्ता अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्षरत है। बाजार और पूँजी के इस साझे खेला में उपभोक्ता पिस रहा है। पूँजी ने बाजार को तो लकदक साजा, किन्तु मनुष्य को बिलासी, - मतलबपरस्त, संज्ञाहीन और गाफिल बना दिया। जगह-जगह पूँजी के कुतुबमीनार खड़े हो गए। मैंने कहीं पढ़ा है कि आदमी को आदम खोर बना देने वाली पूँजी के लिए गांधी जी ने नेक बात कही थी कि - “पूँजी बने, पूँजी बढ़े और पूँजी बँटे”। सवाल है, क्या यह संभव है?

वस्तुतः जुआरी मनोवृत्ति से संचालित पूँजीवादी व्यवस्था के मूल में, ‘लालच’ खड़ा करना होता है। खुद पश्चिम के धार्मिक साहित्य में ‘लालच देनेवाले’ को शैतान का पर्यायवाची माना गया है। उधर गांधीजी, पश्चिम की पूँजीवादी व्यवस्था को ‘शैतानी सभ्यता’ मानते थे। दरअसल, पूँजी का सकेन्द्रण जहाँ शीर्ष पर है, वहाँ सम्पन्नता

भी उतनी ही अकूत है, फिर भी वह स्थायी नहीं है। आर्थिक मंदी एक बड़े व्यतिक्रम के रूप में इसे बार-बार घेरती है, तथाकथित सम्पन्न समाजों और सम्पन्न तबकों को अस्थिर करते हुए। वस्तुतः यह बड़ी पूँजी का समय है। पूँजी, बाजार की हमजबाँ और मित्र होती है। मीडिया पर हावी इस पूँजी का कोई एकायामी चरित्र नहीं होता। सत्ता से इसका गठजोड़ इसे दुर्जेय बनाता है। पूँजी, बाजार और विज्ञापन के नए बने समीकरण ने मनुष्य से उसका सब कुछ छीन-झपट लिया है। आज के ये विज्ञापन पूँजी-पोषण के लिए आग में घी का काम करते हैं। पूँजी थी बैसाखी पर चलने वाले विज्ञापनों ने अपनी ही जड़ों, परंपराओं और विविध आभामयी इन्द्रधनुषी साझा संस्कृतियों को विनष्ट और क्षरित, खण्डित किया है, परिणामतः हमारे देसी मूल्य छीज रहे हैं।

उदारीकरण, भूमंडलीकरण और निजीकरण ने भारत में ऐसी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था स्थापित करने की कोशिश की है, जिसमें सभी कुछ खंडित हो रहा है। सच तो यह है कि भारत में आज जो लोकतंत्र है, वह पूँजीवादी लोकतंत्र है, बल्कि पूँजीवाद के भूमंडलीकरण के दौर का नव उदारवादी लोकतंत्र है, जो उदारवादी लोकतंत्र के सारे इरादों, वादों और लक्ष्यों को भूलकर केवल पूँजीवाद को हर तरह के विस्तार के लिए

कटिबद्ध है। जो व्यक्ति, वर्ग या समूह विकास की पूँजीवादी प्रक्रिया का विरोध करता है या उस प्रक्रिया से तवाह और बर्बाद आदिवासियों, किसानों और मजदूरों की समस्याओं की बात करता है, उसको विकास विरोधी घोषित करनी हुई राजसत्ताएँ उसका दमन करती हैं। जब से पूँजीवादी लोकतंत्र, लोककल्याण छोड़कर, पूँजी के कल्याण को अपना लक्ष्य मानने लगा है, तब ये राजसत्ताएँ अधिक-से-अधिक दमनकारी होती जा रही हैं। अंततः कुल मिलाकर पूँजी ने भारत में 'बाजारू' भोगवाद पैदा किया। भोगवाद ने विलासिता को जन्म दिया। इस तरह पूँजीवाद, भोगवाद और विलासिता के त्रिकोण ने मिलाकर भारत में अपसंस्कृति, बहुराष्ट्रीय बाजारवाद, कट्टरतावाद को एक ओर बढ़ावा दिया, वहीं दूसरी ओर हमारी संस्कृति, जीवन शैली और राजनीति को अपने कब्जे में कर लिया। संघर्षरत जनता के रेशे-रेशे से जुड़कर अभाव, संताप और अज्ञान के खिलाफ उनकी लड़ाई में हिस्सेदारी की बजाय, उन्हें रोका-छेका। मीडिया की सत्ता, राजनीति और कॉरपोरेट के अखाड़े में तब्दील हो गई। उस तरह भूमंडलीकरण, पूँजी और बाजार आदि ने मिलकर 'एक नयी विश्व स्थिति' निर्मित कर दी है। निश्चय ही यह एक क्रूर और अमानवीय स्थिति है।

सम्पर्क : ग्राम पत्रालय - रामपुर माँझा, जनपद-गाजीपुर-233001 (उ.प्र.),
मो. : 9451779235

आठवीं अनुसूची है या भारतीय रेल का अनारक्षित डिब्बा वीरेन्द्र परमार

भारत एक बहुभाषी देश है। यहां 1652 भाषाएं और बोलियां हैं। हिंदी देश की राजभाषा और संपर्क भाषा है। हिंदी देश के अधिकांश भागों में बोली-समझी जाती है। हिंदी की उपयोगिता और सार्थकता को हिंदीतर क्षेत्र के लोगों ने भी महसूस किया है। फलतः हिंदीतर क्षेत्र में हिंदी पढ़ने-सीखने के लिए विशेष उत्साह व आकर्षण दृष्टिगोचर होता है, लेकिन हिंदी प्रदेशों में हिंदी के प्रति उपेक्षाभाव और अंग्रेजी के प्रति ललक चिंतनीय है। यह हिंदी समाज में स्वभाषा गौरवबोध का अभाव प्रदर्शित करता है। यह विचारणीय है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के सात दशकों के बाद भी हिंदीभाषियों में अपनी भाषा के प्रति गौरवबोध क्यों नहीं जाग्रत हो पाया है। हमारे संविधान का अनुच्छेद 351 देश में भाषाई संप्रीति एवं सामाजिक सौहार्द स्थापित करने की दिशा में ठोस पहलकरता है। इस अनुच्छेद से सभी भारतीय भाषाओं के विकास का मार्ग प्रशस्त होता है और परस्पर आदान-प्रदान के विचार को बल मिलता है। सभी भारतीय भाषाएं विकसित हों और अपने-अपने प्रदेशों में राजकाज की भाषा बनें तथा सभी भाषाओं की सुगंध को ग्रहण व आत्मसात करते हुए हिंदी राजभाषा-संपर्क भाषा के रूप में संप्रेषण का सशक्त-समर्थ माध्यम बनकर देश की सामासिक संस्कृति का द्योतक बने, इसी मूल संकल्पना पर भारत की राजभाषा नीति आधारित है। हिंदी ऐसी महानदी है जो देश के सभी घाटों से गुजरती है एवं सभी घाटों के कंकड़-पत्थर, मिट्टी, रेतकण आदि को समेटते तथा अपनी प्रकृति के अनुरूप उन्हें आकार देते हुए आगे बढ़ती है। इसकी धीर-गंभीर जलधारा के संस्पर्श से आंचलिक शब्द भी हिन्दीकृत होकर साहित्यिक गरिमा प्राप्त कर लेते हैं। भारत की डेढ़ हजार भाषाओं में से लगभग 100 सक्रिय भाषाएं हैं जिनमें निरंतर साहित्य सृजन हो रहा है। इनका लोक साहित्य भी अत्यंत समृद्ध है। इनमें से 22 भारतीय भाषाओं को संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित किया गया है। असमिया, बोडो, मणिपुरी, नेपाली, बंगला, ओड़िया, हिंदी, संस्कृत, उर्दू, मैथिली, संथाली, तमिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़, मराठी, पंजाबी, सिंधी, डोगरी, कश्मीरी, गुजराती, कोंकणी अष्टम अनुसूची में शामिल भाषाएं हैं। संस्कृत, हिंदी, नेपाली, मैथिली, मराठी, बोडो की लिपि तो देवनागरी है ही, गुजराती भाषा की लिपि भी देवनागरी का ही एक रूप है जिसमें शिरोरेखा नहीं होती है तथा कुछ अक्षरों की आकृतियाँ परिवर्तित होती हैं। इसी प्रकार पंजाबी भाषा की गुरुमुखी लिपि भी देवनागरी का परिवर्तित अवतार है। डोगरी भाषा पंजाबी की एक बोली है। यह टाकरी लिपि में लिखी जाती है, परंतु अब डोगरी के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग होने लगा है।

सिंधी भाषा की लिपि फारसी का ही एक रूप है। दैनिक व्यवहार में अब सिंधी भाषा के लिए भी देवनागरी का प्रयोग होने लगा है। संथाली भाषा पांच लिपियों में लिखी जाती है-देवनागरी, बंगला, ओड़िया, रोमन और ओल-चिकी। कश्मीरी भाषा को शारदा लिपि में लिखा जाता है जिसका विकास भी ब्राह्मीलिपि से ही हुआ है। कोंकणी भाषा पांच लिपियों में लिखी जाती है - देवनागरी, कन्नड़, रोमन, फारसी तथा मलयालम, परंतु कोंकणी के लिए देवनागरी और कन्नड़ लिपियों का ही अधिक उपयोग किया जाता है। संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित अधिकांश भाषाएं विभिन्न प्रदेशों की राजभाषाएं हैं, किंतु कुछ ऐसी भाषाओं को भी इस अनुसूची में शामिल किया गया है जो किसी भी प्रदेश की राजभाषा नहीं है जैसे, सिंधी, डोगरी, मैथिली आदि। अंग्रेजी भाषा इस अनुसूची में शामिल नहीं है, परंतु नागालैंड और मेघालय राज्यों में अंग्रेजी को राजभाषा का दर्जा दिया गया है। कुछ ऐसी भी भाषाएँ हैं जो विभिन्न प्रदेशों की राजभाषाएँ हैं, परंतु वे अष्टम अनुसूची में शामिल नहीं हैं। उदाहरण के लिए मिजोरम सरकार ने मिज़ो भाषा को 1974 में राजभाषा घोषित कर दिया, परंतु मिज़ो अभी तक आठवीं अनुसूची से बाहर है। मिजोरम की अन्य प्रमुख भाषाएँ हैं जाहू, लखेर, मार, पाइते, लाई, राल्ते इत्यादि। असमिया और अंग्रेजी असम की राजभाषाएँ हैं। असम की बराक घाटी में स्थित जिलों की राजभाषा बंगला है जबकि कार्बी आंगलोंग के स्वायत्त जिलों तथा नार्थ कछार के जिलों की राजभाषा अंग्रेजी है। कोकराझार और अन्य बोडो बहुल जिलों में बोडो भाषा को सहभाषा के रूप में मान्यता दी गई है। असमिया और बोडो को तो आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है, लेकिन असम की अन्य भाषाएँ

इस अनुसूची में शामिल नहीं हैं। मेघालय में खासी, जयंतिया और गारो तीन प्रमुख आदिवासी समुदाय के अतिरिक्त तिवा, राभा, हाजोंग, लाखेर, कार्बी, बाइते, कुकी आदि जनजातियों के लोग निवास करते हैं जिनकी अपनी-अपनी भाषाएँ हैं। मेघालय राज्य भाषा अधिनियम 2004 के अनुसार अंग्रेजी यहाँ की राजभाषा है। इसके अतिरिक्त ईस्ट खासी हिल्स, वेस्ट खासी हिल्स, जयंतिया हिल्स और रि-भोई जिलों में खासी भाषा सहायक राजभाषा है। ईस्ट गारो हिल्स, वेस्ट गारो हिल्स और साऊथ गारो हिल्स जिलों में गारो भाषा सहायक राजभाषा है। मेघालय की किसी भाषा को आठवीं अनुसूची में शामिल नहीं किया गया है। नागालैंड की एक समृद्ध भाषिक परंपरा है। नागालैंड की प्रत्येक जनजाति की अलग-अलग भाषा है और इन भाषाओं के भीतर भी अनेक बोलियाँ हैं जो एक-दूसरे के लिए अबूझ हैं। उदाहरण के लिए अंगामी जनजाति की अंगामी भाषा है और अंगामी भाषा की भी अनेक बोलियाँ हैं। इन बोलियों में भी अंतर है। किसी गाँव में एक बोली के भीतर भी भिन्नता है। भौगोलिक परिवर्तन के साथ यह भिन्नता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। भाषाओं बोलियों का यह अंतर अन्य समुदायों और जनजातियों के बीच के संचार को बहुत कठिन बना देता है। नागालैंड की कोई भी स्थानीय भाषा संपूर्ण प्रदेश में नहीं बोली जाती है। अतः अंग्रेजी को नागालैंड की राजभाषा बनाया गया है जबकि नागामीज बोलचाल की भाषा बन गई है। नागालैंड में लगभग 16 भाषाएँ बोली जाती हैं। नागालैंड सरकार ने आओ, अंगामी, सेमा, लोथा, कोन्यक, संगतम, रेंगमा, फोम, चांग आदि भाषाओं को द्वितीय भाषा के रूप में मान्यता दी है, लेकिन यहाँ की किसी भाषा को आठवीं अनुसूची में शामिल नहीं किया गया है। मणिपुर

में मैतै के अतिरिक्त 29 आदिवासी समुदाय रहते हैं। मणिपुर में मणिपुरी अथवा मैतै आम बोलचाल की भाषा है। यहाँ के लगभग 54 प्रतिशत लोग मैतै भाषा बोलते हैं। इसके अतिरिक्त 29 आदिवासी समुदायों की अपनी-अपनी भाषा है, जैसे-तंगखुल, कुकी, पाइते इत्यादि, लेकिन मणिपुरी को छोड़कर मणिपुर की अन्य किसी भाषा को आठवीं अनुसूची में शामिल नहीं किया गया है। अरुणाचल प्रदेश में लगभग 25 प्रमुख जनजातियाँ निवास करती हैं। आदी, न्यिशी, आपातानी, हिल मीरी, तागिन, सुलुंग, मोम्पा, खाम्ती, शेरदुक्पेन, सिंहफो, मेम्बा, खम्बा, नोक्ते, वांचो, तांगसा, मिश्मी, आका, मिजीइत्यादि प्रदेश की प्रमुख जनजातियाँ हैं। इन सभी जनजातियों की अलग-अलग भाषाएँ हैं, लेकिन किसी अरुणाचली भाषा को आठवीं अनुसूची में शामिल नहीं किया गया है। सिक्किम ने 11 भाषाओं को राजभाषा घोषित किया है। नेपाली, सिक्किमी, हिंदी, लेपचा, तमांग, लिंबू, नेवारी, राई, गुरुंग, मागर और सुनवार। नेपाली इस प्रदेश की संपर्क भाषा है। नेपाली को संविधान की अष्टम अनुसूची में शामिल किया गया है, लेकिन सिक्किम सरकार द्वारा घोषित अन्य दस राजभाषाओं को आठवीं अनुसूची में स्थान नहीं दिया गया है। त्रिपुरा राजभाषा अधिनियम 1964 के अनुसार बंगला एवं काकबराक वहाँ की राजभाषाएँ हैं। इसके अतिरिक्त भी त्रिपुरा में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। बंगला को संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल किया गया है, परंतु काकबराक सहित त्रिपुरा की अन्य भाषाओं को आठवीं अनुसूची में शामिल नहीं किया गया है। गुजरात राजभाषा अधिनियम 1960 के अनुसार राज्य में गुजराती तथा हिंदी दोनों भाषाओं को राजभाषा के रूप में मान्यता दी गई है। आंध्रप्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में विनिर्दिष्ट

कार्यों में उर्दू के प्रयोग का भी प्रावधान है। इसी प्रकार गोवा की राजभाषा कोंकणी है, परंतु कुछ कार्यों में मराठी के प्रयोग की भी व्यवस्था है। केरल में मलयालम के अतिरिक्त तमिल तथा कन्नड़ का प्रयोग करने का भी प्रावधान है। पश्चिम बंगाल में बंगला को राजभाषा बनाया गया है, परंतु कुछ विनिर्दिष्ट क्षेत्र में नेपाली का भी प्रयोग किया जा सकता है। झारखंड की राजभाषा हिंदी है, परंतु वहाँ संथाली और बांग्ला को द्वितीय राजभाषा बनाया गया है। दिल्ली में भी हिंदी के अतिरिक्त पंजाबी का प्रयोग करने का प्रावधान है। अनेक अवरोधों के बावजूद अपनी सरलता, ग्रहणशीलता, आंतरिक ऊर्जा और जन जुड़ाव के बल पर हिंदी ने बहुआयामी विकास किया है, लेकिन हिंदी भाषी क्षेत्र में अपनी-अपनी भाषाओं को आठवीं अनुसूची में शामिल करने का जो बाधा दौड़ आरंभ हो गया है वह अंततः हिंदी भाषा के लिए ही घातक साबित होगा। जब घोषित रूप से राजभाषा होने के बावजूद हिंदी को ही अभी तक संविधान प्रदत्त अधिकार नहीं मिला है तो आठवीं अनुसूची में शामिल हो जाने मात्र से क्या हासिल हो जाएगा। आठवीं अनुसूची के नाम पर केवल सतही राजनीति की जा रही है। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में अभी तक 22 भाषाओं को शामिल किया गया है। इस सूची में 35 और भाषाओं को शामिल करने का प्रस्ताव है। भोजपुरी, अवधी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, हरियाणवी, छत्तीसगढ़ी आदि लोकभाषाएँ प्रतीक्षा सूची में हैं। हिंदी अभी तक हिंदी भाषी ग्यारह राज्यों के सरकारी कार्यालयों की भी भाषा नहीं बन सकी है जबकि हिंदी के नाम पर अनेक प्रकार के पाखण्ड दशकों से चल रहे हैं।

आठवीं अनुसूची में भाषाओं/बोलियों को शामिल करने के लिए अनेक लोग और संगठन

इस प्रकार लालायित हैं मानों इस अनुसूची में शामिल हो जाने मात्र से ये भाषाएँ समृद्धि के शिखर पर स्थापित हो जाएंगी। यह तो मात्र सरकारी झुनझुना है, बजाते रहो। जब 75 वर्षों में हिंदी राजभाषा होते हुए भी अंग्रेजी के सामने दोगुना दर्जे की भाषा बनी हुई है तो अष्टम अनुसूची में शामिल हो जाने मात्र से कौन-सा जन्नत नसीब हो जाएगा।

आठवीं अनुसूची अब तो राजनैतिक स्वार्थ पूर्ति का हथियार बनती जा रही है। हिंदी भाषी प्रदेशों के कुछ नेता और संकुचित मानसिकता वाले बौने कद के साहित्यकार अष्टम अनुसूची में अपना भविष्य तलाश रहे हैं। हिंदी का क्षेत्र बहुत व्यापक है और व्यापक क्षेत्र में ख्याति मिलना कठिन है, लेकिन एक-दो जिलों तक सीमित किसी भाषा में ख्याति अर्जित करना सरल है। आठवीं अनुसूची की मांग के पीछे यह मनोविज्ञान भी काम करता है। राजनेता भी इस मांग को हवा देते हैं जिनका एक मात्र लक्ष्य अपने वोट बैंक को प्रभावित कर चुनाव जीतना होता है। यक्ष प्रश्न यह है कि क्या भाषा का विकास आठवीं अनुसूची की बैशाखी के बिना नहीं हो सकता है। जो हिंदी भाषी समाज अपने लेखकों-कवियों को कोई महत्व नहीं देता वह बोलियों-उपभाषाओं के विकास के लिए क्यों चिंतित होने लगा।

भारत में कोई सुचिंतित भाषा नीति है और जो नीति है उसका अनुपालन नहीं किया जाता। हिंदीतर क्षेत्र को तो छोड़िए, हिंदी भाषी राज्यों में स्थित केंद्र सरकार के कार्यालयों में ही हिंदी में कामकाज नहीं होता है। हिंदी तो अभी तक केवल सजावटी भाषा ही बनी हुई है। हर साल सितम्बर महीने में अथवा संसदीय समिति के निरीक्षण के समय इस सजावटी भाषा को

झाड़-पोंछकर बक्से से निकाला जाता है और श्रद्धा सुमन अर्पित करने के बाद पुनः उसे बक्से में बंद कर दिया जाता है। हिंदी तो अभी तक केवल श्रद्धा की भाषा बनी हुई है, कामकाज की भाषा नहीं बन पायी है। हिंदी श्रद्धेय भाषा ही बनी हुई है और जाहिर है कि श्रद्धेय को श्रद्धांजलि ही अर्पित की जा सकती है। अष्टम अनुसूची के नाम पर हिंदी भाषी क्षेत्र में खूब राजनीति हो रही है। अष्टम अनुसूची न हुई, गोया भारतीय रेल का अनारक्षित डिब्बा हो गया जिसमें प्रवेश की कोई सीमा नहीं है। किन-किन भाषाओं को इस भारतीय रेल के अनारक्षित डिब्बे में प्रवेश देंगे?

हिंदी एक छतरी भाषा है जिस छतरी के नीचे चार दर्जन से अधिक लोकभाषाएँ हैं। केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा ने हिंदी भाषी क्षेत्र में 48 लोकभाषाओं की पहचान की है। भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, ब्रजभाषा, बुन्देली, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी, हरियाणवी, गढ़वाली, कुमाऊँनी, मगही, मालवी, मारवाड़ी, राजस्थानी आदि कितनी भाषाओं को इस अनुसूची में सम्मिलित कर संतोष मिलेगा। जब भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, ब्रजभाषा, बुन्देली, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी, हरियाणवी, गढ़वाली, कुमाऊँनी, मगही, मालवी, मारवाड़ी, राजस्थानी इत्यादि भाषाओं को आठवीं अनुसूची में शामिल किया जाएगा तो मिजो, काकबराक, लेपचा, भूटिया को क्यों नहीं। तब इस अनुसूची में आओ, राभा, मीरी, कार्बी, नागामीज को क्यों नहीं शामिल किया जाएगा।

आठवीं अनुसूची का यह सफ़र कहाँ जाकर विराम लेगा। क्या डेढ़ हजार भारतीय भाषाओं को इसमें शामिल किया जाएगा? अवधी भाषा ने तुलसीदास जैसा महाकवि हम सबको दिया तो अवधी को इस अनुसूची से बाहर क्यों रखा जाएगा। नागालैंड की चाकेसांग, अंगामी, जेलियांगरोंग,

संगतम, सेमा, लोथा, खेमुंगन, रेंगमा, कोन्य क इत्यादि भाषाएँ, त्रिपुरा की जमातिया, चकमा, हालाम, मग, कुकी, लुशाई इत्यादि भाषाएँ, मणिपुर की तंगखुल, भार, पाइते, माओ, मेघालय की खासी, गारो भाषाएँ और अरुणाचल की आदी, न्यिशि, आपातानी, मीजी, नोक्ते, वांचो, शेरदुक्पेन, तांगसा, तागिन, हिलमीरी, मोंपा, सिंहफो, खाम्ती, मिश्मी, आका, खंबा, मिसिंग, देवरी इत्यादि भाषाओं

ने कौन-सा अपराध किया है कि इनको आठवीं अनुसूची से बाहर रखा जाएगा। दुर्भाग्यवश हिंदीभाषी क्षेत्र में ही आठवीं अनुसूची की राजनीति अधिक होती है। अतः आठवीं अनुसूची पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है अन्यथा इस अनुसूची के नाम पर भाषाओं को शामिल करने का अंतहीन सिलसिला चलता ही रहेगा और हिंदी भाषा का क्षेत्रफल सिमटकर शून्य हो जाएगा।

संपर्क : 103, नवकार्तिक सोसायटी, प्लॉट न.13, सेक्टर-65, फरीदाबाद-121004,
मो. 9868200085, ईमेल:-bkscgwb@gmail.com

आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी ई-उपकरण

डॉ. राजीव कुमार रावत

हमारे जीवन में बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और इक्कीसवीं सदी का वर्तमान पूर्वार्ध प्रौद्योगिकीय विस्फोट का कालखण्ड रहा है जिसने जीवन के हर पहलू और मानवीय संबंधों में अनेक विध्वंशक नवोन्मेष देखे हैं। इन नए तौर तरीकों ने जीवन के प्रत्येक आयाम को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है और हम सब उसके उपभोक्ता अथवा भोक्ता बने हैं। हमारा भाषाई परिवेश भी इस प्रौद्योगिकी विस्फोट एवं सूचना-ज्ञान की सुनामी के परिणामों से अछूता नहीं रहा है। आज चहुं ओर प्रौद्योगिकी की धूम है, हर हाथ में मोबाइल है और प्रौद्योगिकी के विविध आयामों में, विशेष रूप से, सूचना प्रौद्योगिकी की शाखाओं में अनुसंधान एवं विकास ने भाषाओं के जीवन, पोषण, उन्नयन, संचरण, संरक्षण, संवर्धन एवं व्यवहार पद्धति के स्वरूपों एवं मानकों में भी बड़े बदलाव किए हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी जिसे कि अंग्रेजी में Information Technology कहा जाता है, मानव जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे - आँकड़ों की प्राप्ति, सूचना संग्रह, सुरक्षा, जलवायु, सामाजिक एवं वातावरण परिवर्तन, आदान-प्रदान, अध्ययन, डिज़ाइन आदि कार्यों तथा इन कार्यों के निष्पादन के लिये आवश्यक कंप्यूटर हार्डवेयर एवं सॉफ्टवेयर अनुप्रयोगों एवं छोटे-बड़े उपकरणों से गहरे सम्बन्धित है और भाषाओं के लेखन, संप्रेषण, बोधन, विश्लेषण के पक्षों तक भी इसकी पहुँच बनी है। इन कार्य व्यवहारों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भूमिका में हिन्दी भी संचार क्रांति विस्फोट के उत्तरगामी परिणामों, चुनौतियों, खतरों एवं अनुसंधानों से अप्रभावित नहीं रही है और उत्तरोत्तर प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों को ग्रहण करते हुए अपने स्वरूप का सहज विस्तार कर रही है। हिन्दी- एक उद्योग के तौर पर तेजी से उभरता हुआ क्षेत्र है जिसमें अकल्पनीय अनुसंधान हो चुके हैं और अनेकानेक उपकरण-साधन भी विकसित हो रहे हैं अथवा हो चुके हैं, प्रयोग हो रहे हैं और अभी भी अनंत संभावनाओं के द्वार खुले हुए हैं तथा साथ ही अतुल निधि का व्यापार-बाजार भी है।

सूचना प्रौद्योगिकीय क्रांति के इन अकल्पनीय अनुसंधानों के अविश्वसनीय एवं चामत्कारिक कालखण्ड में हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के विकास, पोषण, पल्लवन एवं प्रसारण के अब तक उपेक्षित पक्ष पर भी सरकार एवं बाजार का ध्यान गया है और इस क्षेत्र में भी उल्लेखनीय विकास हुआ है। पिछले पचास वर्षों और विशेषतौर से पिछले 25 वर्षों में जिस गति से सूचना प्रौद्योगिकी का विकास हुआ है, भाषाओं की सांस्कृतिक, साहित्यिक विरासत, संघर्ष, इतिहास एवं परंपराओं को सहेजने, ज्ञान अनुवाद के भाव भी प्रबल हुए हैं और नए विकास के प्रतिमानों के साथ कदम से कदम चलने के लिए भाषाएँ

भी कभी अनमने भाव से तो कभी सहज आगे बढ़ने को तैयार हुई हैं, होती जा रही हैं। भाषा, साहित्य कर्मी एवं भाषा प्रयोक्ता, श्रोता, लेखक अथवा पाठक या फिर आलोचक सभी पक्षकारों की मानसिकता, समझ एवं व्यवहार में तकनीकी परिवर्तन हुए हैं।

व्यवहार में देखने में आता है कि हमारे आस-पास बिखरे सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक, साहित्यिक विषयों के संयोग में मशीन की भाषाएं, मशीनी संस्कृति तथा विज्ञान की सेवाओं पर आश्रित समाज, शिक्षण व्यवस्था में सहज बोधगम्य प्रौद्योगिकी हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करती है। इसके फलस्वरूप मानव समाज की प्रचलित अथवा अप्रचलित भाषाओं एवं साहित्य, संस्कारों का ऐतिहासिक एवं वर्तमान स्वरूप भी बदलता है और एक नए प्रकार के भविष्य निर्माण की आधारशिला रखी जाती है जिसमें नई भाषाओं, शैलियों, लिपियों, विन्यासों का जन्म होता है। इसी क्रम में भाषाओं के संक्रमित स्वरूप, संप्रेषण के दूषित तौर-तरीके एवं एक अलग ही प्रकार की समीक्षात्मक बौद्धिकता एवं व्यवहारों का चलन अनायास हो जाता है।

आज सभी निजी ही नहीं बल्कि सरकारी कार्यालयों में भी अधिकांश काम कम्प्यूटरों पर ही किये जाते हैं। कामकाज ही नहीं बल्कि सामान्य रोजमर्रा की जिन्दगी मानो सूचना प्रौद्योगिकी से ही संचालित एवं नियंत्रित हो गई है और भाषा तथा साहित्यिक गतिविधियों के स्वरूप में भी अत्याधुनिक परिवर्तन हुए हैं। एक ओर जहां आम आदमी के लिए सोशल मीडिया, मोबाइल फोन, एटीएम, इंटरनेट बैंकिंग से लेकर रेलवे आरक्षण, ऑनलाइन शॉपिंग, आदि तक सूचना प्रौद्योगिकी के समस्त आयाम, उसके जीवन का

अभिन्न अंग बन चुके हैं वहीं दूसरी ओर भाषा कार्मिकों एवं भाषा शिक्षण तथा साहित्य सृजन, पठन-पाठन के कामकाज के तरीकों में भी युगानुसूय अनेक परिवर्तन हुए हैं।

संविधान के अनुच्छेद 343 से 351 तक राजभाषा संबंधी प्रावधान हैं और कार्यालयीन राजभाषा हिंदी के साथ ही भाषा के रूप में भी हिंदी का प्रयुक्ति क्षेत्र बहुत विस्तृत है। समकालीन समय में सूचना प्रौद्योगिकी जिसकी आत्मा कम्प्यूटर के दोनों अंग (हार्डवेयर एवं सॉफ्टवेयर) हैं, किसी भी आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक, वाणिज्यिक सहित समस्त अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी बन गए हैं और नित नए एप्स, उपकरण, सॉफ्टवेयर, हार्डवेयर विकसित हो रहे हैं। यह सर्वज्ञात है कि कम्प्यूटर ने राजभाषा हिंदी सहित साहित्यिक हिन्दी के सभी संबंधित पक्षों के कार्यों को करना सुगम बनाया है। हिंदी में कम्प्यूटर स्थानीयकरण का कार्य काफी पहले प्रारंभ हुआ था और अब यह आंदोलन की शक्ति ले चुका है। स्थानीयकरण का आशय प्रौद्योगिकी को देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप बनाना, विकसित हो चुके उपकरणों एवं सॉफ्टवेयरों को भाषाई समूह की आवश्यकतानुसार ढालना, विकसित करना एवं प्रयोक्ताओं के अनुकूलन हेतु संशोधन, परिवर्धन आदि प्रक्रियाओं के संचालन से है। हिंदी सॉफ्टवेयर लोकलाइजेशन का कार्य सर्वप्रथम सी-डैक द्वारा 90 के दशक में किया गया था। वर्तमान में हिंदी भाषा के लिये कई सरकारी एवं गैर सरकारी संगठन, संस्थाएं तथा ब्लॉगर कार्य करते हैं, जिसमें भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, खड़गपुर, कानपुर, बाम्बे, आईआईआईटी हैदराबाद, सी डैक, गृह मंत्रालय का राजभाषा विभाग, भारत सरकार के सूचना प्रौद्योगिकी विभाग का टीडीआईएल, (Technology Development for

Indian Languages), राष्ट्रीय अनुवाद मिशन, केंद्रीय हिंदी संस्थान, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग प्रमुख हैं। अनेकों निजी तथा गैर सरकारी संगठन जैसे हिन्दी और तकनीकी समूह, सरोवर. ऑर्ग, पिनाक, आदि बालेन्दु शर्मा, अजय मलिक (हिन्दी सबके लिए), रवि रतलामी (छोटें और बौछारें), श्याम बाबू शर्मा (तकनीकी समाधान), दिलीप सिंह एवं उदयवीर सिंह (हिन्दी ई-टूल्स), सराय, इंडलक्स, निपुण, हरिराम पंसारी (प्रगत भारत) आदि प्रमुख हैं। अनेक व्यक्ति एवं उनके संस्थान भी निजी प्रयासों से एवं कुछ छोटे समूह के रूप में ऋषि दाधीचि एवं महाराज शिव की भांति अहर्निश भाव से हिन्दी सेवा में लगे हुए हैं।

संक्षेप में कहा जाए तो ऐसे प्रयासों के फलस्वरूप ही आज मानव-मशीन संवाद, भाषाई बाधाओं से दूर पारस्परिक मशीनी संवाद एवं अनुवादसे भावों का आदान-प्रदान तथा बहुभाषी ज्ञान के संसाधन बनाना संभव हुआ है। इस दिशा में काफी विकास हुआ है और निरंतर उन्नत प्रयोग हो रहे हैं। कम्प्यूटिंग के नये उपभोक्ता उत्पाद तथा सेवायें विकसित हो रही हैं। विशेषज्ञ अनेक विधियों को समेकित (इण्टीग्रेट) कर भारतीय भाषी उत्पाद एवं समाधान विकसित कर रहे हैं (जैसे शब्द संसाधक, टाइपिंग औजार, श्रुतलेखन, मंत्रा, कंठस्थ, इन्स्क्रिप्ट कुंजी पटल, ध्वन्यात्मक कुंटी पटल आदि सॉफ्टवेयर एवं हार्डवेयर)। हिन्दी भाषी ही नहीं बल्कि अन्य भाषा भाषी विशेषज्ञ एवं कंपनियाँ स्थानीय भाषाओं में कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर उपलब्ध करवाने, हिन्दी सहित अन्य भारतीय भाषाओं के पारस्परिक व्यवहार के लिए भाषाई सॉफ्टवेयरों का विकास करने, मुक्त स्रोत सॉफ्टवेयरों द्वारा भारतीय भाषाओं में त्वरित अनुवाद तथा ऑनलाइन, ऑफलाइन अनुवाद, अनेक विषयों

के शब्दकोश, ज्ञानकोशों का निर्माण एवं डिजिटलीकरण करते हुए उनकी पर्याप्त उपलब्धता एवं सहज पहुंच सुनिश्चित करने एवं उनमें निरंतर अभिवृद्धि करने में लगी हुई हैं। इन सब के समेकित प्रयासों से आम लोगों में हिन्दी कम्प्यूटिंग का ज्ञान बढ़ा है, आम जनता भी इण्टरनेट की उपयोगिता का ज्ञान रखने में सक्षम हुई है तथा इण्टरनेट पर भारतीय भाषाओं के उपयोग संबंधी जानकारी देने का कार्य कहीं सरकारी तौर पर तो कहीं निजी प्रयासों से आगे बढ़ रहा है।

आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी एवं हिन्दी ई टूल्स के जन्म, विकास और विस्तार में बाजारवाद की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। सोशल मीडिया भी हिन्दी कम्प्यूटिंग शिक्षण में एक उल्लेखनीय कारक है जो नूतन प्रौद्योगिकीय ज्ञान को व्यावहारिक रूप में प्रयोग होने देने के लिए उसका सरलतम रूप विकसित करता है और आर्थिक लाभों के लिए बाजार में सार्वजनिक प्रयोग के लिए उतार देता है जैसे गूगल, फेस बुक आदि की अनेकों सेवाएं, गूगल प्ले स्टोर के हजारों एप्स, फेस बुक, इंस्टाग्राम, वाट्सअप, टेलीग्राम आदि के उपभोक्ता प्रौद्योगिकीय रूप में शिक्षित न भी हों किंतु अनुप्रयोगों के मेधावी प्रयोक्ता (स्मार्ट यूजर) शीघ्र बन जाते हैं और फीड बैक देते रहते हैं जिससे और उन्नत, सहज, अति-विकसित सॉफ्टवेयर एवं हार्डवेयरों को बाजार में लाकर लाभ कमाने को कंपनियाँ तत्पर रहती हैं।

हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं के संसार में सबसे महत्वपूर्ण पड़ाव यूनिकोड का आगमन रहा है। यूनिकोड प्रणाली के आगमन से पहले कम्प्यूटर में सब कुछ रोमन लिपि में ही इनपुट के रूप में टाइप होता था और किसी बाह्य प्रोग्राम की सहायता से, हिन्दी आभासी फॉन्ट प्रयोग करते हुए आउटपुट में स्क्रीन पर हिन्दी

दिखती थी। इस प्रक्रिया में अनेक दोष थे किंतु सबसे बड़ा दोष यह था कि इस रूप में टंकित सामग्री को एक कम्प्यूटर से दूसरे कम्प्यूटर पर भेजा नहीं जा सकता था, कहीं किसी वेबसाइट या इंटरनेट पर पोस्ट नहीं किया जा सकता था। इसके लिए प्राप्तकर्ता के कम्प्यूटर में भी वहीं फॉन्ट्स अथवा व्यवस्था का होना अनिवार्य था जो प्रेषक के कम्प्यूटर में होती थी वरना प्राप्तकर्ता के कम्प्यूटर में चौकोर बॉक्स-बॉक्स जैसी आकृतियाँ बन जाती थीं। यूनिकोड एक ऐसी व्यवस्था है जिसने वैश्विक रूप में कम्प्यूटर पर भाषा एवं लिपियों के टंकण, प्रेषण, संरक्षण संबंधी अनेक समस्याओं का समाधान किया है। इण्डिक यूनिकोड 5.2 ने भारतीय भाषाओं के लिए भी कम्प्यूटिंग की राह आसान की है। यूनिकोड स्टैंडर्ड की उत्पत्ति और इसके सहायक उपकरणों की उपलब्धता, हाल ही के अति महत्वपूर्ण विश्वव्यापी सॉफ्टवेयर प्रौद्योगिकी रूझानों एवं क्रांतिकारी उपलब्धियों में से हैं जिसने स्थानीय जड़ताओं एवं बंधनों को पार करते हुए एक ही छलांग में कम्प्यूटर पर हिन्दी को राष्ट्रीय क्षितिज पर मानक रूप में स्थापित कर दिया एवं वैश्विक भाषा बना दिया है। यूनिकोड आगमन से अब किसी भी देश में किसी भी प्लेटफार्म पर, किसी भी प्रोग्राम में आप हिन्दी एवं अन्य भाषाओं में काम करने में सक्षम हो गए हैं।

यद्यपि ऐसा माना जाता है और सत्य है कि संस्कृत अपने व्याकरणिक वैशिष्ट्य एवं अर्थ ग्रहण तथा भाव संप्रेषण आदि शुद्धता कारकों से कम्प्यूटर के लिए सबसे उपयुक्त भाषा है किन्तु भारतीय मेधा ने इस दिशा में अभी तक कुछ विशेष उपलब्धि प्राप्त नहीं की है। संगोष्ठियों एवं भाषणों में यह बहुत मनमोहक, संतुष्टिपूर्ण एवं प्रसन्नता दायक लगता है किन्तु यह उद्घोष

वाचिक उपलब्धि एवं सांकेतिक गर्वबोध से आगे नहीं जा पाया है। इसका एक दूसरा उत्साहजनक पहलू भी है कि हिन्दी और कम्प्यूटिंग की जुगलबंदी में आर्थिक लाभ की अनंत संभावनाओं को बाजार ने भांप लिया है। इसलिए आज बाज़ार में आने वाला हर नया कम्प्यूटर या कोई भी उपकरण अथवा कोई भी अन्य गैजट ना सिर्फ हिंदी, बल्कि दुनिया की आधिकतर भाषाओं में कार्य करने में सक्षम होता है क्योंकि सभी लिपियाँ यूनिकोड मानक में शामिल हैं। मौजूदा समय में हिंदी 'ग्लोबल हिंदी' या हिंग्लिश के भौंडे स्वरूप में परिवर्तित हो गयी है। एक सुखद पक्ष भी है कि आज तकनीकी विकास के युग में दूसरे देशों के लोग भी, भले ही वाणिज्यिक लाभ एवं विपणन के लिए ही सही, हिंदी भाषा सीख रहे हैं। आज स्थिति यह है कि भारत व चीन के व्यवसायिक संबंधों को बढ़ाने की संभावनाओं की तलाश के लिए लगभग दस हज़ार लोगपेइचिंग में हिंदी सीख रहे हैं और विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी का संगठित अध्ययन-अध्यापन होता है।

आज से लगभग 45 वर्ष पूर्व कम्प्यूटर पर हिंदी में कार्य आरंभ हुआ था और इसी तरह एंकोडिंग व डिकोडिंग के माध्यम से विश्व की विभिन्न भाषाएँ भी कम्प्यूटर पर सुलभ होने लगी, इस तकनीकी विकास ने भारतीय भाषाओं को जोड़ा है। सी-डैक संस्था एवं भारत सरकार के राजभाषा विभाग के प्रयास महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने विभिन्न सॉफ्टवेयरों का विकास किया है। नई पीढ़ी के लिए आज लगभग सभी विश्व विद्यालयों के स्नातक, परास्नातक पाठ्यक्रमों में हिन्दी कम्प्यूटिंग के अध्याय हैं। भारत सरकार में पुरानी एवं नई कार्मिक एवं अधिकारियों की पीढ़ियों को हिंदी सीखने-सिखाने के विभिन्न कम्प्यूटरीकृत कार्यक्रम हैं जैसे- प्रबोध, प्रवीण व प्राज्ञ, पारंगत,

हिन्दी टंकण पाठ्यक्रमों के लिये लीला वाचिक, हिन्दी प्रवाह, वायस टाइपिंग, वर्ड में अनुवाद तकनीक के प्रयोग आदि। भाषा सीखने की प्रक्रिया को विभिन्न भाषा माध्यमों ने काफी आसान बना दिया है जिससे भाषायी निकटता का उदय हुआ है। इससे भाषायी एकता आना स्वाभाविक था और पूर्वाग्रहों से मुक्त होना हिन्दी ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के लिए सुखद अहसास हो चला है। वर्तमान समय में मोबाइल फोन ने लैंडलाइन फोन का स्थान ले लिया है और मोबाइल फोन पर हिन्दी समर्थित है और इस दिशा में निरंतर अनुसंधान हो रहे हैं। कई मोबाइल कंपनियाँ, सोनी, नोकिया, सैमसंग, एमआई, गैलेक्सी, एपल, वीवो आदि हिन्दी टंकण, हिन्दी वाइस सर्च, त्वरित भाषांतरण, त्वरित अनुवाद व हिन्दी भाषा में इंटरफेस की सुविधा प्रदान कर रही है। इसके साथ ही आई पैड पर हिन्दी लिखने की सुविधा उपलब्ध है। अंग्रेज़ी के साथ-साथ आज हिन्दी भाषा का भी नेटवर्क पूरे विश्व में फैलता जा रहा है। जागरण, वेब दुनिया, नवभारत टाइम्स, विकिपिडिया हिन्दी, भारत कोष, कविता कोष, गद्य कोष, हिन्दी नेक्स्ट डॉट कॉम, हिन्दी समय डॉट कॉम, भारत कोष आदि इंटरनेट साइटों, ब्लॉग्स पर हिन्दी सामग्री प्रचुर मात्रा में देखी जा सकती है, डाउनलोड, अपलोड की जा सकती है।

हिन्दी में बड़े बाजार की संभावनाओं की नब्ज़ को पहचानते हुए माइक्रोसॉफ्ट, गूगल जैसी वैश्विक कंपनियों ने अपने सॉफ्टवेयर उत्पादों से संबंधित सहायक साहित्य तथा मार्गदर्शक सूत्रों को विशेषज्ञों की सहायता से हिन्दी में उपलब्ध कराने के सफल प्रयोग किए हैं। विंडोज 95 से प्रारम्भ यात्रा के अगले चरणों में विंडोज के बहुप्रचलित संस्करणों जैसे 98, विंडोज़ विस्टा व

विंडोज 7 जैसे ऑपरेटिंग सिस्टम के साथ एमएस वर्ड, पावर प्वाइंट, एक्सेल, नोटपैड, इंटरनेट एक्सप्लोरर, जैसे सभी प्रमुख सॉफ्टवेयर उत्पाद अब हिन्दी में कार्य करने की सुविधा प्रदान करते हैं। माइक्रोसॉफ्ट का लैंग्वेज इंटरफेस पैकेज स्थानीयकरण का बेहतर उदाहरण है। नवीनतम विंडोज 10 एवं 11 हिन्दी में कार्य करने की अद्भुत क्षमताओं से युक्त हैं। विंडोज 11 अकल्पनीय विशेषताओं का भंडार है जिसमें मात्र विंडोज कुंजी को H के साथ दबाकर सीधे-सीधे वर्ड में आप हिन्दी भाषा में बोलते जाइए और कम्प्यूटर टाइप करता चलेगा। विंडोज के साथ लिनक्स आदि में भी हिन्दी कार्य सहज है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी के चमत्कारों से हिन्दी भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में अविश्वसनीय, जादुई बदलाव आए हैं, आवश्यकता बस उन्हें खुले मन से स्वीकारने एवं सीखने की है। यहां कुछ ऐसे ई-उपकरणों की संक्षिप्त जानकारी देना समीचीन होगा जिन्हें हिन्दी के प्रत्येक भाषा-भाषी, विद्यार्थी, प्राध्यापक, विभागाध्यक्ष, लेखक, पाठक, साहित्यकार, समीक्षक, जिज्ञासु, विशेषज्ञ को जानना और सीखना चाहिए।

क. गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग ने अपनी वेबसाइट <http://www.rajbhasha.nic.in> पर राजभाषा हिन्दी में कार्य करने को आसान बनाने के उद्देश्य से हिन्दी में कई सॉफ्टवेयर उपलब्ध कराये हैं, जिसमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं-

1. लीला LILA अर्थात् Learn Indian Languages with Artificial Intelligence, एक स्वयं शिक्षण मल्टीमीडिया पैकेज है। यह राजभाषा विभाग द्वारा तैयार किया गया एक निःशुल्क सॉफ्टवेयर है जिसके द्वारा प्रबोध, प्रवीण व प्राज्ञ स्तर के हिन्दी के पाठ्यक्रमों को विभिन्न भारतीय

भाषाओं जैसे कन्नड़, मल्यालम, तमिल, तेलगु, बांग्ला आदि के माध्यम से सीखने, ऑनलाइन अभ्यास, उच्चारण सुधार, स्वमूल्यांकन, आदि की सुविधा उपलब्ध है।

2. मंत्र अर्थात् Machine Assisted Translation Tool - सीडैक द्वारा विकसित एक मशीनी अनुवाद सॉफ्टवेयर है। यह राजभाषा विभाग द्वारा विकसित एक मशीनी साधित (Machine aided) अनुवाद है और उन कार्मिकों के लिए बहुत लाभप्रद है जो राजभाषा कर्मी अथवा अन्य भूमिका में प्रशासनिक, वित्तीय, कृषि, लघु उद्योग, सूचना प्रौद्योगिकी, स्वास्थ्य रक्षा, शिक्षा एवं बैंकिंग क्षेत्रों के दस्तावेजों का अंग्रेज़ी से हिंदी में अनुवाद करते हैं। मंत्र राजभाषा इंटरनेट संस्करण के डिजाइन व विकास, थिन क्लाउंट आर्किटेक्चर पर आधारित है, इसमें संपूर्ण अनुवाद प्रक्रिया केन्द्रीय सर्वर पर होती है, इसलिये दूरवर्ती स्थानों में भी यदि इंटरनेट उपलब्ध हो और चाहे गति अच्छी हो या न हो, लो एंड सिस्टम पर भी दस्तावेजों का अनुवाद करने की इस सुविधा का उपयोग किया जा सकता है।

3. श्रुतलेखन एक सतत्त्वत्ता स्वतंत्र वाक् पहचान प्रणाली (स्पीच रिकग्नीशन सिस्टम) है, जिसका विकास सीडैक, पुणे के एलाइड ए.आई ग्रुप ने राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार के सहयोग से किया गया है। यह वाक्-पाठ (स्पीच टू टेक्स्ट) ई-उपकरण है। इस विधि में प्रयोक्ता माइक्रोफोन में बोलता है तथा कंप्यूटर में मौजूद स्पीच टू टेक्स्ट प्रोग्राम उसे प्रोसेस कर पाठ/ टेक्स्ट में बदल कर लिखता है। इसी प्रकार की बेहतर सेवा गूगल ड्राइव में गूगल डॉक्स के माध्यम से भी प्राप्त की जा सकती है जिसमें सीधे बोलकर टाइप करते हुए बड़े-बड़े काम किए जा सकते हैं। डिक्टेशन डॉट आईओ जैसे कई प्रोग्राम बड़े-बड़े भाषणों को स्क्रीन पर साथ-

साथ लिख सकते हैं। यद्यपि इनमें कुछ त्रुटियां होती हैं तथापि ये ई-उपकरण बड़े सहायक हैं जिनसे टंकण का काफी समय बचता है।

3. वाचांतर, ध्वनि से पाठ में अनुवाद प्रणाली है जिसमें दो प्रौद्योगिकियों का समावेश है। यह उपकरण अंग्रेज़ी स्पीच से हिंदी पाठांतर अथवा अनुवाद हेतु है।

4. सी-डैक पुणे के तकनीकी सहयोग से ई-महाशब्दकोश का निर्माण किया गया जो कि राजभाषा की साइट पर निःशुल्क उपलब्ध है। यह एक द्विभाषी 'द्विआयामी शब्दकोश' है जिसके द्वारा हिंदी या अंग्रेज़ी अक्षरों द्वारा शब्द की सीधी खोज किया जा सकता है। कुछ निजी संस्थाओं की शब्दकोश साइट भी बहुत उपयोगी हैं जैसे शब्दकोश.काम, हिंगोज, रफतार.काम आदि।

5. मशीन अनुवाद की विभिन्न विधियाँ अब मौजूद हैं जिनमें गूगल ट्रांसलेट, बिंग ट्रांसलेट के साथ ही सीधे वर्ड डॉक्यूमेंट में भी अनुवाद संभव हो गया है। माइक्रोसॉफ्ट 365 हिन्दी में काम करने का नवीनतम उपकरण कहा जा सकता है जो आधुनिकतम एवं प्रयोक्ता सहज तकनीकी विशेषताओं से हिन्दी में काम करना बहुत सरल बनाता है। भारत सरकार हिन्दी से अन्य भाषाओं में और अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद को बढ़ावा दे रही है। तकनीक के उत्तरोत्तर विकास द्वारा मशीनी अनुवाद टूल बनाना संभव हो सका है। आज विश्व के कई देशों और संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं के पास अत्यंत सक्षम अनुवाद उपकरण हैं। इनकी सहायता से वैश्विक मंचों पर विभिन्न देशों का आपसी मिलन आसानी से संभव हुआ है। भारत में भी अनुवाद टूल बनाने की दिशा में कई सॉफ्टवेयर बनाए गए हैं जिनमें सी-डैक, आईआईटी कानपुर, आईआईटी मुंबई, आईआईआईटी हैदराबाद जैसी अनेक संस्थाओं एवं व्यक्तियों की अहम भूमिका है। सी-डैक द्वारा

विकसित कंठस्थ इस दिशा में मील का पत्थर सिद्ध होगा जब हम अपने किए काम का स्मृति कोष तैयार करते रहेंगे और गूगल अनुवाद जैसे मशीन अनुवादों से अधिक शुद्ध और सटीक अनुवाद हमारे कोश से ही हमें मिलता रहेगा साथ ही हम एक जैसे काम को ही पुनः अनुवाद करने के अतिरिक्त श्रम से बचेंगे।

6. हिन्दी टंकण के साधनों के रूप में आज हमारे पास अनेकों साधन उपलब्ध हैं। इंडिक इनपुट से लेकर इनस्क्रिप्ट तक की यात्रा में अनेक चरण हैं किन्तु आज अधिकांश जन सीधे-सीधे टंकण के लिए इनस्क्रिप्ट टंकण सीख रहे हैं जिससे हिन्दी में काम करना बहुत तीव्र एवं सरल हुआ है। टीडीआईएल का इन्स्क्रिप्ट ट्यूटर, बालेन्दु का स्पर्श, आसान टाइपिंग ट्यूटर आदि अच्छे टंकण शिक्षण उपकरण हैं।

7. फॉन्ट्स एवं लिपि परिवर्तकों के रूप में भी हमारे पास अब अनेक ऑफलाइन एवं ऑनलाइन संसाधन उपलब्ध हैं। प्रखर, गिरगिट, टीबीआईएल कनवर्टर जैसे प्रोग्रामों ने अनेक उलझनों को दूर कर दिया है। गैर यूनिकोड से यूनिकोड में इसके विपरीत क्रम में सामग्री को परिवर्तित करने के अनेक ई-उपकरण ऑनलाइन, ऑफलाइन उपलब्ध हैं।

8. गूगल लैस एवं ओसीआर जैसी सुविधाओं ने हिन्दी के संसार में क्रांति कर दी है। अब आप किसी भाषा को पढ़ना लिखना न भी जानते हों किन्तु गूगल लैस जैसे प्रोग्राम से आप फोटो खींचकर उसमें से पाठ को चुनकर अपनी मनपसंद भाषा में बदल कर पढ़ सकते हैं, समझ सकते हैं, संपादित कर सकते हैं, किसी फोटो से पाठ निःसृत कर सकते हैं, पीडीएफ फाइलों को संपादित करने योग्य बना सकते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि

आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी ने हिन्दी के अनेकानेक ई-उपकरण विकसित किए हैं और इससे हिंदी में काम करना बहुत आसान हुआ है। जैसा कि कहा जाता है कि भाषा गई तो संस्कृति गई, को ध्यान में रखते हुए हमें इन ई-उपकरणों का प्रयोग अपनी भाषा और संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु करना होगा। आज भारत में 800 से ज्यादा टीवी चैनल और 250 तक एफएम चैनल उपलब्ध हैं और करोड़ों मोबाइल एवं इंटरनेट प्रयोक्ता हैं। साथ ही ई समाचार-पत्रों के चलन ने पत्रकारिता को एक नया स्वरूप दिया है। आज अपनी मातृभाषा में समाचार-पत्र पढ़ने के लिए उस क्षेत्र विशेष में अनिवार्यतः उपस्थित रहना आवश्यक नहीं रहा। लगभग सभी प्रमुख समाचार-पत्रों के ई संस्करण इंटरनेट पर उपलब्ध हैं। इनके अलावा हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में ई-बुक्स, ई-मैगजीन, ई-कॉमिक्स आदि का प्रसार भी काफी तेज गति से हो रहा है। समेकित रूप से कह सकते हैं कि आज हम तकनीकी उपकरणों से चारों ओर से घिरे हुए हैं, तकनीकी विकास ने हमारी जीवन-शैली और समाज के ढांचे को भी प्रभावित किया है और भाषा भी इससे अछूती नहीं है। आज सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में हिंदी का महत्व पहले से अधिक हो गया है और यह महज राजकाज की संवैधानिक बाध्यता से निकलकर समर्थ भाषा के रूप में उभर कर सामने आयी है और धीरे-धीरे वैश्विक भाषा बनने की ओर सधे कदमों से चल रही है। आशा करते हैं कि वह दिन दूर नहीं जब हिन्दी स्वतंत्रता संग्राम के स्वप्न दृष्टा नायकों के सपनों को पूरा करते हुए सच्चे अर्थों में देश की राजभाषा बनेगी और निश्चित ही हिन्दी के ई 'उपकरणों की भूमिका को विस्मृत अथवा न्यून नहीं किया जा सकेगा।

संपर्क : वरिष्ठ हिन्दी अधिकारी, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान खड़गपुर, खड़गपुर 721302 (प.बं), मोबाइल-9564156315, Email : dr.rajeev.rawat@gmail.com

आजादी के बाद दशकों में जिन कहानीकारों ने अपनी अलग पहचान बनायी थी और हिन्दी कहानी को नई दिशा दी थी उनमें मन्नू भंडारी का नाम विशिष्ट है। वे हिन्दी के उन गिने-चुने रचनाकारों में अग्रणी हैं कि जिनका लिखा हमें आत्मिक स्वतंत्रता की ओर अग्रसर करता है। उनकी प्रगाढ़ अनुभूति की अभिव्यक्ति उनकी सहज भाषा में हिन्दी कथा-जगत में अपनी तरह की एक अमिट जगह ही नहीं बनाती बल्कि प्रतिष्ठा भी कायम करती है। उनका लेखन अनुभव सिद्ध आत्मवान साहित्यकार का सृजन है। वे स्वयं स्त्री-पुरुष के साथ मिलकर समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहती हैं। परस्पर सहयोग और पूरकता के बिना कोई साझा मिशन संभव नहीं है। आदर्श मनुष्य व आदर्श संबंध तभी संभव है जब स्वतंत्रता तथा दायित्वबोध दोनों ही व्यक्ति के पास हो। मन्नू जी आजादी के बाद बदलती परिस्थितियों में नारी की सुदृढ़ भूमिका की तलाश करते हुए अपनी कहानियों में स्त्री के चारों ओर पुरुष द्वारा बुना गया तिलिस्म तोड़ने का प्रयास किया हैं। उन्होंने परम्परागत चिंताओं से मुक्त होकर समानता और स्वतंत्रता के इस दौर में महिलाओं को मुखर और सबल बनाने का कार्य किया है। इनकी कहानियों में पुरुष सत्ता को कठघरे में खड़ा कर स्त्री मुक्ति प्राप्त करने की छटपटाहट को बड़े सशक्त तथा मार्मिक ढंग से रेखांकित किया गया है।

मन्नू भंडारी जी दृढ़ इच्छा शक्ति एवं सघन संवेदनात्मकता से लैस होकर तमाम समकालीन चुनौतियों का संधान करने में लगी रहीं तथा सफल होती गयीं। इस संस्थान में उनका सबसे सशक्त हथियार उनकी मुखर अभिव्यक्ति रही है। उनके सृजन में आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा के साथ-साथ आत्म-सजगता तथा परिवेशगत चेतना उनके कहानीकार के सामाजिक तथा रचनात्मक सरोकार का केन्द्र बिंदु रहा है। उन्होंने अपने भोगे हुए यथार्थ तथा अनुभव के प्रामाणिक सच को अपने लेखन की अभिव्यक्ति का पाथेय बनाया। उन्होंने निजी स्वतंत्रता तथा ईमानदारी को नष्ट किए बिना समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी को महसूस किया है। उनके कथा सृजन को पढ़े तथा देखें तथा परखें तो लगता है जिये तथा भोगे हुए अनुभवों के साथ किया गया सप्रमाण लेखन है। उनकी कथा नायिकाएँ जिन्दगी के प्रति उदासीन नहीं हैं, बल्कि पारम्परिक रुग्ण समाज से अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर अपना रास्ता खुद तलाशती हैं। स्वस्थ एवं सकारात्मक नारी चेतना का स्वरूप उनके कथा सृजन में विद्यमान है। छठें-सातवें दशक में मन्नू ने अपने कथा साहित्य की संवेदना तथा शिल्प का विस्तार करते हुए स्त्री चेतना तथा उनके संघर्षशील स्वरूप को स्थापित किया। सुधा अरोड़ा हंस जनवरी-2022 के अपने संपादकीय में लिखती हैं- 'मन्नू भंडारी ने बेशक अपनी

रचनाओं में अपने पात्रों के माध्यम से कोई बगावत का बिगुल नहीं बजाया, पुरुष सत्ता पर और पुरुष सत्ता को कंधा देने वाली महत्वाकांक्षी स्त्रियों पर सवाल खड़े नहीं किए, लेकिन उनका जीवन और उनके निधन के बाद की स्थितियाँ आज पुरुष सत्ता की जड़ों के बहुत गहरे धंसे होने की ओर संकेत ही नहीं करतीं, उन्हें कटघरे में खड़ा भी करती हैं। पुष्पा जोहरी अपने एक लेख में लिखती हैं- 'वैयक्तिक चेतना से अनुप्राणित मूल रूप से मन्नू भंडारी नारी-जीवन की ही कथाकार हैं। उन्होंने आधुनिक नारी को घर की चहारदीवारी से निकालकर कर्मक्षेत्र में ला खड़ा किया है। शिक्षित युवती के वैवाहिक जीवन की आन्तरिक त्रासदी की सूक्ष्म पहचान अंकित की है। (आपका बँटी, 1971) इनकी कहानियों में प्रेम का नया यथार्थ जहाँपत्नी-पति दूध पानी की तरह नहीं पानी बालू की तरह मिलते हैं, मार्मिक चित्रण मिलता है, (यही सच है (1972), एक से अधिक पुरुषों से सेक्स-सम्बंध (ऊँचाई, यही सच है, एक प्लेट सैलाब) दाम्पत्य सम्बंधों की ऊहापोह (आकाश के आइने में), सामाजिक अजनबीपन (तीसरा आदमी), धनिकों का खोखलापन (नकली हीरे) आदि समस्याओं को व्यक्त कि हैं। इनकी कुछ कहानियों में सेक्स तथा व्यक्ति की तंग दुनिया से बाहर निकलकर जीवन की व्यापकता तथा बहुजनहिताय वाला दृष्टिकोण भी मिलता है।' (समकालीन हिन्दी कहानी, पृ.-217)।

वह स्त्री-लेखन का चेहरा होते हुए भी पितृसत्ता की आँखों में कभी नहीं चुभी। मन्नू जी के साफ स्वच्छ हृदय और एक सहज व्यक्तित्व के कारण उनकी रचनाओं को पढ़ते हुए सहज भाषा और अनायास लेखन का स्वाद-सुख मिलता है। उनके अनुभवी सच्चाई और संवेदना की गहराई अपनी व्यापकता के साथ प्रभावित तथा

आकर्षित करती है। मन्नू भंडारी जी ने उपन्यास, कहानी, नाटक, आत्मकथा, बाल साहित्य विधाओं में अपनी रचनाएँ दीं। लेकिन हिन्दी साहित्य में उन्हें कथाकार उपन्यासकार के रूप में ख्याति मिली।

उनके प्रमुख उपन्यास हैं - 'एक इंच मुस्कान', 'आपका बंटी', 'महाभोज', 'स्वामी', 'कलवा' प्रमुख कहानी संग्रह हैं- 'मैं हार गई', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', श्रेष्ठ कहानियाँ- 'आँखों देखा झूठ', 'यही सच है', 'एक प्लेट सैलाब', 'त्रिशंकु', 'अकेली'। (मन्नू भंडारी की सम्पूर्ण कहानियाँ)। रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और एक स्वस्थ आधुनिक दृष्टि उनकी कहानियों की आधारभूत शक्ति है। कहानी लेखन के साथ ही उपन्यास क्षेत्र में भी मन्नू जी ने ख्याति अर्जित की है। इनके कुल चार उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। यह बात अलग है कि कहानियों के क्षेत्र में मन्नू जी को जितना जाना जाता है उतना शायद उपन्यास में नहीं। लेकिन इन्होंने जो भी उपन्यास लिखे वे हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित हुए। 1971 में 'आपका बंटी' उपन्यास प्रकाशित हुआ। वह आठवें दशक का बहुचर्चित उपन्यास रहा है। मन्नू भंडारी का बहुचर्चित उपन्यास 'आपका बंटी' शिक्षित पति-पत्नी के अपने-अपने अहं के जबरदस्त टकराव के परिणाम स्वरूप उनके दाम्पत्य के विघटन की विषम कथा है। इससे बड़ी बिडम्बना क्या होगी कि इन टूटते सम्बंधों के लिए सबसे कम जिम्मेदार और बेगुनाह उनका बँटा ही इस त्रास को सबसे अधिक भोगता है। पत्नी शकुन तलाक के कागजों पर हस्ताक्षर करती हुई सोचती है- 'अजय को उसे दिखा ही देना है कि वह अगर एक नयी जिन्दगी की शुरुआत कर सकता है तो वह भी कर सकती है।' महिला कथाकार के नाते मन्नू भंडारी ने नारी मनोविज्ञान को बहुत

बारीकी से चित्रित किया है। उनके नारी पात्र अपने स्वतंत्र अस्तित्व का उद्घोष करते दिखाई देते हैं। मन्नू जी की नारी देवी और दानवी के दो छोरों के बीच टकराती पहेली नहीं हाड़-मांस की मानवी भी है।

उनकी स्त्री जीवन के अनेक स्तरों पर बहुआयामी संघर्ष को झेलती ऐसी स्त्री है जिसके मन के भीतर, समाज के भीतर भाँति-भाँति के युद्ध लड़ने पड़ते हैं। इस युद्ध में अपनी पहचान और आहत स्वाभिमान की रक्षा के लिए वह सामंती विधानों तथा प्रवृत्तियों से टकराती जरूर हैं, लेकिन उसके विरुद्ध भीषणता की अनुगूँज उसमें नहीं है, बल्कि निषेध और अस्वीकार की ऊँच ध्वनि है। आपका बंटी की शकुन जब अपनी अस्मिता का संधान करने लगती है तो सक्षम भी हो जाती है और अजय के लिए चुनौती बन जाती है जो अलगाव पर आकर खत्म होता है। अलगाव में पिसते मासूस बंटी के माध्यम से जहाँ छीजती मानवीय संवेदनाएँ हैं, वही बंटी की त्रासदी के साथ ही शकुन की आत्मनिर्भर बनने की आकांक्षा का संदर्भ भी महत्वपूर्ण है। यह उपन्यास स्त्री संघर्ष के नये आयाम तथा नये गवाक्ष खोलता है। वह यथास्थिति को नियति मानने वाली नहीं हैं बल्कि हर क्षण निरति को चुनौती देने में संलग्न दिखाई पड़ती हैं। मन्नू जी का कथा संसार समकालीन जीवन के बाहरी तथा भीतरी यथार्थ से जूझता, परम्परागत नैतिकता तथा रूढ़ मान्यताओं का विरोध करता है। उनकी नायिकाएँ स्त्री जीवन की वर्जनाओं का विरोध करती हैं और उनके घरे से बाहर निकलती हैं।

इस उपन्यास में दर्शाया गया है कि तलाक और पुनर्विवाह के नाम पर बहुत से घर टूटते तथा जुड़ते हैं। ऐसी दशा में हर एक घर में एकाध बंटी जरूर छूटे हुए होते हैं। बच्चों के

मनोजगत को केन्द्र में लेकर लिखा गया इस तरह का उपन्यास कम ही देखने को मिलता है। बंटी के ऊहापोह, बंटी का दर्द, उसकी बेचैनी, उसकी भीतरी मनोदशा को मन्नू जी जिस संवेदनात्मक लगाव तथा अन्तरंगता से उभारती हैं, वह स्वागत योग्य है। मन्नू जी के विपुल कहानियों का अवलोकन करना यहाँ संभव नहीं होगा फिर भी कुछ कहानियों के माध्यम से उनके लेखन की दशा-दिशा तथा विविध सरोकारों और आयामों को समझा जा सकता है। 1979 में 'महाभोज' उपन्यास प्रकाशित हुआ जिसमें राजनीति ही राजनीति है। जिन दिनों वे यह उपन्यास लिख रही थीं उस समय राजनीति का प्रभाव सामाजिक, व्यक्ति जीवन पर अधिकाधिक होता रहा है। यह उपन्यास भी राजनीतिक प्रभाव से मुक्त नहीं है।

उनका राजनीतिक चिंतन 'महाभोज' जैसे उपन्यास में अपने उग्र रूप में फूट पड़ा है। उस रूप में प्रकट होने से पहले उसकी क्रमिक भूमिका अवश्य बनी होगी। 'एक इंच मुस्कान' तो राजेन्द्र यादव के साथ लिखा हुआ उपन्यास है। दोनों के सहकार में लिखे इस उपन्यास पर टिप्पणी करते हुए हेतु भारद्वाज लिखते हैं- 'असल में मन्नू भंडारी एक ऐसी प्रबुद्ध महिला थीं, जो मानव जीवन में होने वाले सभी तरह के बदलावों को निर्विकार भाव से देखती थीं, उन परिवर्तनों की उपयोगिता समझती थीं, अपने रचनात्मक अनुभव के स्तर पर उनको महसूस करती थीं, और अपनी रचनाओं में उतारती थीं। इसलिए मन्नू भंडारी का लेखन पाठक के हृदय के अधिक निकट है और पाठक पर उनका प्रभाव भी बहुत गहराई से पड़ता है। रचनात्मक ऊँचाई की दृष्टि से मन्नू भंडारी का लेखन राजेन्द्र यादव के लेखन से कहीं अधिक सशक्त है। इस अंतर को हम इन दोनों के सहकार

में लिखे 'एक इंच मुस्कान' नामक प्रयोगशील उपन्यास के विभिन्न परिच्छेदों को पढ़कर अच्छी तरह समझ सकते हैं। उपन्यास की कथा को जिस गहराई के साथ मन्नू भंडारी उठाती हैं राजेन्द्र यादव उसका निर्वाह नहीं कर पाते।' (मधुमती, दिसम्बर-2021, पृ-37)। मन्नू जी ने साहित्य में स्त्री आन्दोलन या स्त्री विमर्श जैसा मुखर प्रतिरोध नहीं दिखता, लेकिन स्त्री के अन्तर्बाह्य अंधेरों को उसके भावनात्मक संकट को, दाम्पत्य एवं घरेलू जीवन के संघर्षों को, घुटन, हताशा, यौन-कुंठा को कई अनछुए कोणों से व्यंजित किया है। हिन्दी में उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम कहानी, उपन्यास को बनाया, लेकिन कहानी लेखन में उनकी प्रवृत्ति अधिक रही। उनके नौ से अधिक कहानी संग्रह प्रकाशित हैं। इन कहानियों में पाठक को बाँधे रखने की अपार क्षमता है। उनकी कहानियों में ऐसे जीवंत चित्र चित्रित हुए हैं जो पाठकों के मर्म को आंदोलित करते हैं साथ ही साहित्य जगत में अपना एक विशिष्ट स्थान भी बनाते हैं।

मन्नू जी की पहली कहानी 'मौत' नाम की है। जो कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'नया समाज' में प्रकाशित हुई।

इस पत्रिका का प्रचार कम था, अतः अधिकांश पाठकों के पास नहीं पहुँच पायी। इसके बाद इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'कहानी' में 'मैं हार गई' छप गई। इस कहानी की ओर पत्रिका के संपादक भैरव प्रसाद गुप्त तथा पाठक विशेष रूप आकर्षित हुए। इसके बाद उन्होंने जो भी कहानियाँ लिखीं, समय-समय पर छपती रहीं। उनकी साहित्य रचना खंडित या बाधित नहीं हुई। 'मैं हार गई' कहानी की प्रशंसा तथा वाहवाही सुनने के परिणाम स्वरूप मन्नू जी अपने सृजन कार्य काफी मनोयोग से

जुड़ गई। इसी प्रशंसा ने उन्हें साहित्य क्षेत्र में स्थापित तथा चर्चित कर दिया। कहानी लेखन में ऐसा जुनून मन्नू जी को चढ़ा सन् 1957 के अंत में 'मैं हार गई' नामक बारह कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ। इसके बाद 1959 में 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' शीर्षक वाला कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ, इसके बाद 'यही सच है' कहानी संग्रह आर्य जिसमें आठ कहानियाँ प्रकाशित हैं। 'यही सच है' कहानी पर बासु चटर्जी की रजनीगंधा नामक फिल्म भी बनी है। उनका चौथा कहानी संग्रह 'एक प्लेट सैलाब' 1968 में प्रकाशित हुआ। 1978 ई. में 'त्रिशंकु' नामक कहानी संग्रह छपा जिसमें नौ कहानियाँ हैं। 'आँखों देखा झूठ' बालपयोगी कहानियों का संग्रह है। कहानी तथा उपन्यास के क्षेत्र में उनका महत्वपूर्ण योगदान है। उनकी कथाएँ जहाँ पाठकों का अन्तःकरण स्पर्श करती हैं तो कहीं चित्रित होकर छोटे परदे पर आकर दर्शकों को विभोर करती हैं, उनकी कुछ कहानियाँ दूरदर्शन पर धारावाहिक के रूप में भी आई हैं। इनकी कहानियाँ पति-पत्नी के संबंधों, पारिवारिक जीवन और प्रेम संबंध आदि दृष्टिकोणों को लेकर चली हैं। उनके नये मन, पुरानी रुढ़ियों के संघर्ष के धरातल पर नारी की घरेलू और वैयक्तिक समस्याओं नये और परिवर्तित रूपायित हैं। नारी के सच्चे रुढ़ियुक्त मुक्ति का उदय स्पंदन, उसका द्वन्द्व और वर्तमान विषम परिस्थितियों से विद्रोह की दृष्टि से 'ईसा के घर इंसान' महत्वपूर्ण है। उनकी कुछ कहानियाँ समाज का प्रतिनिधित्व करती दिखाई देती हैं जैसे- 'अकेली', 'खोटे सिक्के', 'तीसरा हिस्सा', 'राजा', 'स्त्री सुबोधिनी', 'एक बार और', 'मैं हार गई', 'दो कलाकार', 'रानी माँ का चबूतरा' आदि।

शिल्पगत नवीनता की ऊँचाई उतनी भले

न हो लेकिन उनकी कहानियाँ मर्म को छूती हैं तथा उनमें जीवन की भरपूर नमी है। सभी कहानियों में वे अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हैं। यहाँ मन्नू जी कुछ कहानियों के माध्यम से सृजन सरोकारों का संक्षिप्त में अवलोकन करने का प्रयास किया जा रहा है। हिन्दी की महिला कहानीकारों में सबसे सार्थक कृतित्व मन्नू भंडारी का है। उनकी कहानियों में अनुभव की प्रामाणिकता के साथ समय की प्रामाणिकता, द्वन्द्व के उपरांत किसी सार्थक सिरे पर जनमती निर्णयशीलता और कथनगत, कलात्मकता का सहज ताल-मेल मिलता है। 'रानी मां का चबूतरा', 'क्षए', 'यही सच है', 'तीसरा आदमी', 'मजबूरी' आदि कहानियों से जहाँलेखिका की प्रगतिशील दृष्टि और यथार्थ पर सही पकड़ प्रमाणित होती है, वहीं अनुभूतियों को पर्त-पर्त उघाड़ने जाने में उसकी भाषा सामर्थ्य और कथन भंगिमा देखते बनती है। 'सजा', 'खोटे सिक्के' आदि कई कहानियों में नारी जीवन के बाहर जाकर मौजूदा सामाजिक विसंगतियों को चीन्हा जा सकता है। उनकी कहानियों में कलागत सजगता अवश्य है लेकिन वह रूढ़ि बनकर नहीं आई है।

मन्नू जी बहुत सचेत होकर कहानी कार्य में संलग्न रहीं। उन्हें कथित महिला लेखन की रूढ़ियों और अन्तर्विरोधों का पता है और वे प्रायः उसका अतिक्रमण करते दिखाएँ देती हैं।

'अकेली' कहानी में पति-पत्नी के संबंधों को दर्शाया गया है। इस कहानी की नायिका सोमा बुआ है। बुआ का जवान बेटा क्या जाता रहा। उनकी अपनी जवानी चली गई। पति को पुत्र वियोग का ऐसा सदमा पहुँचा कि वे पत्नी और घर-बार छोड़कर तीरथवासी हो गए। परिवार का ऐसा कोई सदस्य नहीं था कि उनके एकाकीपन को दूर करता। जब उनके पति उनके पास रहते

तो वह और भी मुरझाई हुई रहती, क्योंकि पति का स्नेहहीन व्यवहार का अंकुश उनके रोजमर्रा के जीवन की अबाध गति से बहती स्वच्छन्द धारा को कुंठित कर देता है।' (आधुनिक हिन्दी कहानी समाजशास्त्रीय दृष्टि, रघुवीर सहाय, पृ.-76)। 'सजा' एक ईमानदार व्यक्ति के टूटने की कहानी है किस तरह से एक ईमानदार व्यक्ति चोरी का आरोप लगने पर बच्चों से, पत्नी से, समाज से और अपनों से भी कट जाता है। हमारी कानून व्यवस्था-उस व्यक्ति को टूटने पर मजबूर करती जाती है। इसका प्रभाव बच्चों को अचानक कब बड़ा कर देता है पता ही नहीं चलता। 'स्त्री सुबोधिनी' और 'एक बार फिर' में स्त्री-पुरुष के बीच बदलते प्रेम सम्बंध अविश्वास को दर्शाती है। चश्मे में स्त्री के निश्चल प्रेम और पुरुष के धोखे को व्यक्त करती है।

'दो कलाकार' तथा 'रानी मां का चबूतरा' कहानियाँ समाज के संघर्षों को झेलती स्त्री अत्यंत कठिनाइयों से अपने बच्चों का पालन करती हुई, समाज के तुकराये हुए बच्चों पर मातृत्व लुटाती हुई समाज को सीख देते हुए आगे बढ़ रही है। 'मैं हार गई' कहानी में आज के नेताओं तथा राजनीतिक परिदृश्य पर व्यंग्य किया गया है। यह कहानी दर्शाती है कि आज नेताओं का चारित्रिक पतन इतना ज्यादा हो गया है कि वह चाहे गरीबी में पला हो या फिर अमीरी में वह खुद को चलाने के लिए ऊँची-ऊँची बातें तो कर सकता है

मन्नू जी की कतिपय कहानियों में कर्म तथा संघर्ष के महत्व को दर्शाया गया है। वे कर्म में विश्वास रखती हैं। कर्मशील, कर्मठ व्यक्ति के लिए नियति पर विश्वास करना ठीक नहीं है। डॉ. लालचन्द्र गुप्त ने मन्नू जी के इस दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखा है। "मन्नू भंडारी की कुछ

कहानियों में कर्म और संघर्ष के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। जिस व्यक्ति को अपने कर्म पर विश्वास है, उसे संसार में किसी भी अवलंब की आवश्यकता नहीं है।" मन्नू भंडारी की 'जीती बाजी की हार' कहानी की नायिका कहती है- "सहारा उसे चाहिए जो अपने को अबला समझे। मैं सबला हूँ मुझे किसी का सहारा नहीं चाहिए।" भाग्य के भरोसे बैठे रहकर मनुष्य निष्क्रियता का शिकार हो जाता है। मन्नू भंडारी की एक अन्य कहानी 'एक कमजोर लड़की' की कहानी का ललित कहता है- "किस्मत-किस्मत सब बेकार की बातें हैं आदमी चाहे तो अपनी किस्मत को बदल सकता है।" (अस्तित्ववाद और नयी कहानी, लेखक, डॉ. लालचंद्र गुप्त, पृ.- 165-166)।

आलोचक लक्ष्मीसागर वाष्णीय मन्नू जी की कहानियों पर विचार व्यक्त किया है- "कला के प्रति मन्नू भंडारी का भी विशेष आग्रह नहीं है, पर वह कहानियों की सहजता तथा सम्प्रेषणीयता बनाये रखती हैं। उनकी कहानियों में खलने वाली बात मैनरिज्म है, जिसके प्रति मन्नू भंडारी का विशेष आग्रह रहता है। उसके पात्र बिना किसी एक्शन के कुछ कह ही नहीं सकते। या तो वे कुछ कहने के पूर्व बालों का झटका देंगे, साड़ी के पल्लू के छल्ले बनायेंगे, टाई की नाट ढीली या तंग करेंगे या और न सही बार-बार चाए या कॉफी में चम्मच डालकर ही हिलाएँ। कहीं ये क्रियाकलाप उस समय पात्रों की विशेष मनःस्थिति को स्पष्ट करने में सफल होते हैं, पर प्रायः वे निरर्थक ही प्रतीत होते हैं और कोई प्रभाव डालने में असमर्थ रहते हैं।" (आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, लक्ष्मीसागर वाष्णीय, पृ.- 149)। मन्नू जी की कहानियों में मध्यवर्गीय पारिवारिक परिवेश का चित्रण भी, मध्यवर्ग में रहने वाले व्यक्ति के रहन-सहन, खान-पान आदि

का चित्रण भी इनकी कहानियों में मिलता है। मध्यवर्ग में इन्होंने ज्यादातर नौकरी-पेशा परिवार को ही अपनी कहानियों का विषय बनाया है। वैसे भी कहीं-कहीं पर मजदूरी करने वाली स्त्री का भी चित्रण किया है। जैसे 'रानी माँ का चबूतरा' की गुलाबी जो दिन-रात काम करके अपने बच्चों के भविष्य उज्ज्वल करने में लगी हुई है।

डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ के शब्दों में- "नारी जीवन के विविध पक्षों पर मन्नू भंडारी ने साधिकार और सविस्तार से लिखा है। हिन्दी की महिला कहानीकारों में सबसे सार्थक कृतित्व मन्नू भंडारी का है। उनकी कहानियों में अनुभव की प्रामाणिकता के साथ समय की प्रामाणिकता, द्वन्द्व के उपरांत किसी सार्थक सिरे पर जन्मती निर्णयशीलता और कथनगत कलात्मकता का सहज तालमेल मिलता है। मन्नू की कहानियों 'मैं हार गई', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', 'यही सच हैं', 'त्रिशंकु' आदि संग्रहों में हैं। 'रानी माँ का चबूतरा', 'क्षय', 'यही सच है', 'तीसरा आदमी', 'मजबूरी' आदि कहानियों से जहाँ लेखिका की प्रगतिशील दृष्टि और यथार्थ पर सही पकड़ प्रमाणित होती है, वहीं अनुभूतियों के पर्त-पर्त उघाड़ते जाने में उनकी भाषा-सामर्थ्य और कथन भंगिमा देखते बनती है।"

लक्ष्मीसागर वाष्णीय जैसे समीक्षकों ने उनकी कहानियों के संदर्भ में एक खास तरह के मैनरिज्म की चर्चा की है। यह आरोप लगभग निराधार है। मन्नू भंडारी की कहानियों में कलागत सजगता अवश्य है लेकिन कोई रूढ़ि बनकर नहीं आयी है। 'त्रिशंकु' जैसी कहानियाँ हर तरह से पूर्ण हैं।' (समकालीन हिन्दी कहानी, संपादक, डॉ. प्रकाश आतुर, पृ.-206-07)।

आज के युग में संयुक्त परिवार की तो

कल्पना ही नहीं की जा सकती क्योंकि संयुक्त परिवार तो नगरों में बचे ही नहीं है। नगरों में विभक्त परिवार भी किसी न किसी कारणों टूटते हुए दिखाई देते हैं। जैसे 'बंद दरवाजों के साथ', 'तीसरा आदमी', 'दीवार', 'बच्चे और बरसात', 'घुटन', 'बाँहों का घेरा', 'शायद', 'सजा', 'नई नौकरी', 'हार', 'छत बनाने वाले' आदि कहानियों में दिखाई देते हैं। परिवार टूटने के अनेक कारण हैं। परिवार में ऊब की स्थिति, हर कहानी में कहीं न कहीं पात्र अपने परिवार के अपने सदस्यों से अजनबीपन का अहसास जरूर पाते हैं। कहीं पर पति-पत्नी के संबंधों में तीसरे व्यक्ति के आने से, कहीं पर केवल तीसरे प्राणी के उपस्थिति से संत्रास और घुटन है। कहीं पर शासन की अव्यवस्था के कारण तो कहीं पर पति की सीमित आर्य के कारण, कहीं पर स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व के कारण, पति-पत्नी की अलग-अलग रुचियों के कारण, कहीं-कहीं राजनीति के कारण परिवार के टूटने की प्रक्रिया दिखाई दे रही है। मन्नू जी ने अपनी कहानियों पर उच्च-मध्यवर्ग, मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग के परिवेश को उसके टूटन को चित्रित किया है। उनकी कहानियों में अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण सूक्ष्म और मौलिक ढंग से हुआ है। अपनी 'तीसरा आदमी' और 'यही सच है' कहानी में सशक्त अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है जो उन्हें मौलिकता प्रदान करता है और श्रेष्ठता के लिए दावे पर सिद्ध करता है। 'तीसरा आदमी' में सतीश के मन में जो अन्तर्द्वन्द्व है वह उसकी आत्महीनता तथा विश्वासहीनता का परिणाम है। उसमें पौरुषहीनता की भावना तीव्र रूप में घर कर बैठी हुई है। उसकी यह पौरुषहीनता की भावना ही उसके अन्तर्द्वन्द्व का कारण बन जाती है। एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति नौकरी करने वाला पति सतीश अपनी पत्नी के परिचित व्यक्ति के

साथ बात-चीत करते हुए भी सहन नहीं करता। नारी के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण मन्नू जी की प्रसिद्ध कहानी 'यही सच है' में भी हुआ है। दीया अपने दोनों प्रेमियों को समान रूप से चाहती है लेकिन सहज, सरल रूप में वह दोनों को पा नहीं सकती। अतः पहले प्रेमी और दूसरे प्रेमी को लेकर उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। यह अन्तर्द्वन्द्व 'संख्या के पार', 'एक बार और' आदि में दिखाई देती है। अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित करने वाली मन्नू जी की अधिकतर कहानियाँ स्त्रियों के जीवन पर लिखी हुई हैं। जिसका कारण लेखिका के समसामयिक स्थिति में मिलता है।

'मन्नू जी ने जहाँ नारी की पीड़ा को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है वहीं उनके व्यक्तित्व को एक अलौकिक विश्वसनीय दृढ़ता भी दी है जो पुरुष के अहं से उसे हमेशा ही रक्षा-कवच की तरह सुरक्षित रखती है।' (आज की हिन्दी कहानी:- विचार एवं प्रतिक्रिया, ले. मधुरेश, पृ-43)। मन्नू जी ने व्यक्ति के अहं, सामाजिक परिवेश में उसका टूटना, नवीन सम्बंधों के प्रति आकर्षण को यथार्थवादी दृष्टि से अंकित किया है। डॉ. भैरुलाल गर्ग मानते हैं-"व्यक्ति के अहं, सामाजिक तथा तज्जनित विसंगतियों से उसका टूटना आदि स्थितियों का सूक्ष्म तथा यथार्थ चित्रण किया गया है।" (स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन, पृ.-128)। मन्नू जी का संबंध व्यक्तिवादी चिंतन में अधिक है। उन्होंने अपनी कहानियों में व्यक्ति को अधिक महत्व दिया। इसकी ओर संकेत करती उर्मिला गुप्ता लिखती हैं-"मन्नू भंडारी ने व्यक्तिगत चरित्रों को मुख्य केन्द्र बनाकर कथानकों की सृष्टि की है। साथ ही लेखिका ने कहानी कला को व्यष्टि के धरातल पर प्रतिष्ठित किया है।" (स्वातंत्र्योत्तर, कथा लेखिकाएँ, पृ.-53)। व्यक्ति को अधिक महत्व दिए जाने से उसी के

आन्तरिक संघर्ष का खुलकर चित्रण हुआ है, केवल संघर्ष का ही नहीं, बल्कि नये मूल्यों के प्रति उसके आकर्षण का भी वर्णन मिलता है। मन्नू जी ने किसी भी मान्यता को परम्परागत हो या नया हो किसी को भी स्पष्ट रूप से स्वीकृति या तिरस्कृत नहीं किया है। इसी संदर्भ में उमा गुरुपादप्पा का विचार है-“मन्नू जी किसी भी नये मूल्य के बारे में मूक स्वीकृति देते हुए नजर आती हैं। उदाहरण के लिए ‘त्रिशंकु’ में नये और पुराने मूल्यों की पूर्णतः स्वीकृति या अस्वीकृति न होने पर त्रिशंकु की तरह स्थिति होती है लेकिन यहाँ कहीं भी स्पष्ट रूप से नये मूल्यों के प्रति स्वीकृति दी हुई नजर नहीं आती है।” (मन्नू भंडारी की कहानियों में आधुनिकता बोध, पृ.-140)।

मन्नू जी विशुद्ध यथार्थावादी श्रेष्ठ कहानीकार हैं। जो नगरीय परिवेश की कठिनाइयों से घिरा हुआ आज के आधुनिक व्यक्तिगत तथा समाज का सही यथार्थ है। साहित्य समाज का दर्पण है। अतः साहित्य रूपी दर्पण में समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत होना चाहिए।

अतः मन्नू जी ने इसका पालन बखूबी अपने कहानी संसार में किया है। काल सापेक्षता यथार्थ की प्रमुख विशेषता है। इसका निर्वाह मन्नू जी ने किया है। इसी तरह मन्नू जी ने अपने संक्रमणकालीन जिन्दगी का चित्र प्रस्तुत करते समय टूटते-बनते मूल्यों का बोध कराया है।

उनकी कहानी ‘तीसरा हिस्सा’ में पति-पत्नी के सम्बंधों में टूटन और पिता-पुत्र के सम्बंधों में भी टूटन की स्थिति स्पष्ट हो गई है।

शेरा बाबू का बँटा सुधीर जब रात में देर से आता है तो उसके पिता उसे डाँटते हैं, कड़कर बोलते हैं तो सुधीर भी उनसे ज्यादा कड़कर उत्तर देता है, उनकी आवाज बंद कर देता है। अतः दिखाया गया है कि नई पीढ़ी के लिए पिता

के आदर्श का कोई मूल्य नहीं है। इस तरह टूटते मूल्यों का चित्रण ‘दीवार’, ‘बच्चे और बरसात’, ‘अभिनेता’, ‘मैं हार गई’, ‘क्षय’, ‘बंद दरवाजों के साथ’, ‘कमरे कमरा और कमरे’, ‘ऊँचाई’ आदि कहानियों में हुआ है। नये तथा पुराने मूल्यों का संक्रमण की दशा का चित्रण ‘गीत का चुम्बन’, ‘आते-जाते यायावर’, ‘त्रिशंकु’ आदि कहानियों में देखने को मिलता है। बनते हुए मूल्यों का चित्रण ‘ऊँचाई’ और ‘यही सच है’ आदि कहानियों में हुआ है, साथ ही राजनीतिक मूल्यों का भी चित्रण हुआ है।

मन्नू जी की कहानियों में लगभग आधा दर्जन कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें अविवाहित स्त्री पुरुषों की कहानियाँ कह सकते हैं। इन्हें हम प्रेम कहानियाँ भी कह सकते हैं। ‘गीत का चुम्बन’, ‘अभिनेता’, ‘घुटन’, ‘यही सच है’, ‘एक बार और’, ‘स्त्री सुबोधिनी’ इन कहानियों का समावेश अविवाहित स्त्री-पुरुषों की कहानियों में कर सकते हैं। इन कहानियों में कभी स्त्री विवाहित होकर भी किसी और से प्यार करती है तो कभी पुरुष विवाहित होकर भी किसी और स्त्री से प्यार करता है। मन्नू जी की कहानियों का अन्तरंग बहुत विविधतापूर्ण है। उन्होंने समकालीन समाज की विशेषतः नागरी समाज की स्त्रियों पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किया है। इसीलिए इन कहानियों में यथार्थता स्वाभाविक रूप से उभरी है। नगर में रहने वालों का जीवन और उस जीवन की विविध समस्याएँ उनकी कहानियों में चित्रित हुई हैं। नगर-बोध, मध्यवर्ग के पारिवारिक परिवेश का चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व चित्रण, मनोविश्लेषण का अवलम्ब, सीधे-सादे प्रसंगों का चित्रण, यथार्थवाद, टूटते मूल्यों का बोध, स्त्री के पक्षपात की ओर झुकाव, अनुमानित जीवन दर्शन आकर्षक शैली तथा सरल सुगम भाषा का प्रयोग मौजूद

है। मन्नू जी भाषा को क्लिष्ट और कृत्रिम बनाने के चक्कर में नहीं पड़ी। उनकी भाषा सरल, सुबोध तथा सुगम है। सरल और छोटे-छोटे वाक्यों में भी वे सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। परिवेशानुकूल भाषा होने से बोल-चाल की भाषा का प्रयोग पात्रानुकूल हुआ है। जो एकदम सरल और स्वाभाविक लगता है। कहानी जनसाधारण तक पहुँचने वाली विधा है इसलिए इसमें भाषागत दुरुहता तथा क्लिष्टता के लिए अवसर नहीं मिलना चाहिए। उनकी भाषा विविध गुणों से युक्त है तथा परिवेशानुकूल एवं पात्रानुकूल है। मन्नू जी ने दुरुह भाषा के जंगल में अपने पाठकों को न फंसाकर सरल, मार्मिक भाषा में अपने भावों को प्रकट किया है। उनकी कहानियाँ अपने संएत गंभीर शैली में नारी जीवन के सम्पूर्ण यथार्थ को हमारे सामने ऊजागर करती हैं। कटिबद्ध कथाकार मन्नू जी की कहानियाँ मर्मस्पर्शी प्रवाह पूर्ण भाषा-शैली के कारण पाठकों को अपने साथ बहा ले जाने में पूर्ण रूप से समर्थ हैं। उन्होंने अपने दीर्घ जीवन के अनुभवों को सजीव पात्रों के कथोपकथनों के ताने-बाने में पिरोकर प्रस्तुत किया है। उनकी कहानियाँ जीवनानुभवों से उपजी होने के कारण पाठक के मन में गहरी

विश्वसीनयता पैदा करती हैं जो समकालीन कहानी परिदृश्य में अपनी एक अलग हैसियत बनाती हैं।

उनके अनुभव का वैविध्य और मार्मिक क्षणों को पकड़ने की संवेदनशीलता उसकी रची हुई कहानियों में बोलती हैं। महिला कथा साहित्य की सुदृढ़ स्थिति में मन्नू जी ने एक मजबूत नींव स्थापित की है तथा उनका योगदान साहित्य जगत में चिरस्मरणीय रहेगा। एक कथाकार के तौर पर उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके इस अमूल्य अवदान को भूलाया नहीं जा सकता। उन्होंने समकालीन कथा साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। इनकी कहानियों की भाषा में प्रवाहातात्मक, सांकेतिकता, चित्रात्मकता, भावात्मकता, नाटकीयता, व्यंग्यात्मकता आदि गुणों का अन्तर्भाव है। राजेन्द्र यादव मन्नू जी की भाषा को चटकदार, अलंकारिक, अनावश्यक उपमाओं से लदी बनाने के झंझट में नहीं आती बल्कि अपनी सहज भाषा में ही सशक्तता का बोध कराती हैं। उनकी भाषा में अंग्रेजी शब्दों का प्रचुर प्रयोग है; साथ ही उर्दू, फारसी, बंगाली शब्दों का प्रयोग हुआ है। मन्नू जी हिन्दी कहानी लेखिकाओं में अधिक लोकप्रिय, बहुत श्रेष्ठ तथा बहुचर्चित कहानीकार रही हैं।

सम्पर्क : डॉ. ओम प्रकाश पाण्डेय, संपादक-नया परिदृश्य, गेट बाजार, (एन. जे. पी.), पोस्ट- भक्तिनगर, सिलीगुड़ी, पिन-734007 (प. बंगाल), दूरभाष-9434494430, Whatsap No-8972694711, Email :-dromprakashpandey80@gmail.com

सांस्कृतिक समन्वय और प्रेमचंद

डॉ. रीता सिन्हा

रामधारी सिंह दिनकर ने कहा है कि 'भारतीय संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है'। तात्पर्य यह कि भारतीय संस्कृति कोई एक संस्कृति नहीं है, बल्कि यह कई संस्कृतियों के मेल से निर्मित है। प्रेमचंद की भी भारतीय संस्कृति के लिए यही मान्यता थी। उन्होंने भी माना कि भारतीय संस्कृति की गतिमानता और सहिष्णुता ही इसके स्थायित्व का कारण है। अतीत से वर्तमान के सातत्य को देखा जाए तो भारतीय संस्कृति में आर्य, द्रविड़ हूण, शक, मुगल फ्रांसीसी, अंग्रेज आदि की संस्कृति का सौंदर्य समाहित दिखता है। खान-पान हो या वेश-भूषा या फिर भाषा का प्रश्न हो आज उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम में भारतीय संस्कृति की जो लहरें उद्दाम वेग से ऊपर उठती हैं, उसमें कई संस्कृतियों के सौंदर्य की सर्वोत्तम छटा है। यही समन्वित संस्कृति भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति में जिस 'सर्वे भवन्तु सुखिनः और सर्वे सन्तु निरामयः' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव निहित है, वह अनेक संस्कृतियों के इसी समन्वय के औदार्य के कारण ही है। प्रेमचंद भी कहते हैं- 'अहिंसा परमो धर्मः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ये दो सूत्र हमारी संस्कृति के मूल तत्व हैं और इस अधोवस्था में भी हम उन्हें अपनाये हुए हैं'। साहित्य के जिस उद्देश्य को लेकर प्रेमचंद चले, उसमें संस्कृति के इसी उदार और उदात्त पक्ष का सौंदर्य दिखाई देता है। इस संस्कृति के सौंदर्य को सांप्रदायिकता के द्वारा अभिशप्त करते हुए भी उन्होंने कट्टरपंथियों को देखा था, जिससे उनके भीतर का युग-स्रष्टा सजग हो उठा था। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति, सामंती-पूंजीवादी संस्कृति, ब्रह्मणवादी-उदारवादी संस्कृति, पश्चिमी बाज़ारवादी भारतीय कृषकवादी संस्कृति तथा मध्यकालीन-आधुनिक संस्कृति का समन्वय प्रेमचंद के कथा-साहित्य में सहज ही देखा जा सकता है। सांप्रदायिकता को वे किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए काफ़ी बड़ा खतरा मानते थे।

सन 1934 में प्रेमचंद ने 'सांप्रदायिकता और संस्कृति' शीर्षक एक लेख में कहा था- 'सांप्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है इसलिए वह गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति की खाल ओढ़कर आती है'। प्रेमचंद ने जिस भारतीय संस्कृति को समझा था, वह दिनकर की ही 'रसायन की प्रक्रिया से तैयार संस्कृति' थी, जिसमें सांप्रदायिकता के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए 24 जुलाई 1933 में 'जागरण' के संपादकीय में श्री चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक 'इस्लाम का विषवृक्ष' की भी उन्होंने तीखी आलोचना की थी और सांप्रदायिकता के द्वारा जनता में द्वेष फैलाने की प्रवृत्ति को राष्ट्र को

सर्वनाश की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति कहा था। उन्हीं के शब्दों में- 'ऐसी ज़हरीली पुस्तकें बिकती ज़्यादा हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। सांप्रदायिक मनोवृत्ति वाली हिन्दू जनता में मुसलमानों के प्रति द्वेष बढ़ाया जा सकता है। यह ऐसा मुश्किल काम नहीं, लेकिन क्या इस द्वेष को भड़काना एक यशस्वी और ज़िम्मेदार लेखक की मर्यादा के अनुकूल है?...अपने-अपने समय में प्रभुता पाकर अत्याचार भी सभी जातियों ने किए हैं लेकिन उन गई बीती बातों को कीड़े की तरह पालना और उनका प्रचार करके जनता में द्वेष फैलाना राष्ट्र को सर्वनाश की ओर ले जाना है'।

प्रेमचंद एक सच्चे साहित्यकार थे। वे यह जानते थे कि मनुष्य के चिन्तन और विचारों को सबसे अधिक प्रभावित उसकी संस्कृति ही करती है और संस्कृति आसानी से विनष्ट भी नहीं हो सकती, क्योंकि यह किसी सभ्यता के साथ उसी तरह संगुंफित है, जैसे फूलों में सुगंध। प्रेमचंद कूपमंडूकता को भी संस्कृति के लिए हानिकारक मानते थे। उनकी रचनाओं में हर जगह भारतीयता का सौंदर्य है, क्योंकि यह भारतीयता कई देशों और जातियों की संस्कृति को अपने भीतर समाहित और समन्वित कर निर्मित हुई है। वे धर्म के नाम पर संस्कृतियों के विभाजन के विरोधी थे। उनका साहित्य हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई धर्म में निहित मानव-संस्कृति को उभारने का सफल प्रयास है। 'सांप्रदायिक सौहार्द की स्थापना' में साहित्य की भूमिका पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं- 'साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है, वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हमसे सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है। जिस हिन्दू ने कर्बला की मारके तारीख पढ़ी है, यह असंभव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो। उसी तरह जिस मुसलमान ने रामायण पढ़ी है, उसके

दिल में हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यकीनी है। कम से कम उत्तरी हिंदुस्तान में हरेक शिक्षित हिंदू-मुसलमान को अपनी तालीम अधूरी समझनी चाहिए, अगर वह मुसलमान है तो हिंदुओं के और हिंदू है तो मुसलमानों के साहित्य से अपरिचित है'।

प्रेमचंद यह मानते थे कि हिंदू और मुसलमान एक दूसरे से लड़ते थे तो सोशलिस्ट और डेमोक्रेट भी एक दूसरे से लड़ते थे। वे इस लड़ाई के अंत के लिए स्वार्थ और भेद का अंत आवश्यक समझते थे। वे धर्मों के आधार पर संस्कृति के विभाजन को भी अनुचित मानते थे। उनके ही शब्दों में- 'मगर हम आज भी हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का रोना रोये चले जाते हैं। हालाँकि संस्कृति का धर्म से कोई संबंध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है, लेकिन ईसाई संस्कृति और मुस्लिम या हिन्दू संस्कृति नाम की कोई चीज़ नहीं है'।

प्रेमचंद पर सांप्रदायिक होने का भी आरोप लगा लेकिन प्रेमचंद के हिंदू और मुस्लिम पात्र मनुष्यता का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'मुक्तिधन' कहानी में लाला दाऊदयाल को रहमान फरिश्ता मानता है। सच्चाई यह है कि प्रेमचंद के साहित्य में विभिन्न धर्मों के पात्र मनुष्यता की ही खोज करते हैं। 'सेवासदन' उपन्यास में वेश्यावृत्ति के संबंध में प्रेमचंद ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों पर प्रहार किया है। रामविलास शर्मा के शब्दों में 'प्रेमचंद यह दिखलाते हैं कि पराधीनता और वेश्यावृत्ति हिंदुओं और मुसलमान दोनों में है। वह इस्लामी संस्कृति और हिंदू संस्कृति का डंका बजानेवालों से कहते हैं-देखो, यह है तुम्हारी संस्कृति जो हिंदू और मुसलमान दोनों ही धर्मों की स्त्रियों से वेश्यावृत्ति कराते हैं'। तात्पर्य यह है कि प्रेमचंद का सांस्कृतिक सौंदर्यशास्त्र नैतिकता

और मानवता के इर्द-गिर्द घूमता था। वे जिस भारतीय संस्कृति को महत्त्व देते थे, उसमें छल, प्रपंच, ढोंग और पाखंड जैसे कोई तत्व नहीं थे।

राष्ट्रवाद भी संस्कृति से ही परिचालित होता है। यदि वैचारिकता में कट्टरता, संकीर्णता, विलासिता और अंधभक्ति आ जाए, तो राष्ट्र का हित ख़तरों में पड़ सकता है। प्रेमचंद इस सच को जानते थे इसलिए उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की कट्टरताओं का विरोध किया। अकर्मण्यता और भोग-विलास की मानसिकता से सब कुछ किस तरह तबाह होता है, उसे 'शतरंज के खिलाड़ी' में देखा जा सकता है। मिरज़ा सज्जाद अली और मीर रौशन अली जैसे जागीरदार विलासी हैं, क्योंकि उनके नवाब वाजिद अली शाह का यही सांस्कृतिक दर्शन है। इसमें न वफ़ादारी है, न प्रेम और न आस्था जिससे अंग्रेज़ों द्वारा वाजिद अली शाह को कैद करके ले जाने के दौरान पूरा शहर विरोध करने की अपेक्षा केवल तमाशा देखता है। मिरजा सज्जाद अली और मीर रौशन अली जैसे जागीरदार भी इस दौरान शतरंज के खेल के 'शह' और 'मात' में लगे रहते हैं। इन मित्रों का अंत भी एक दूसरे की तलवार से ही होता है, वह भी शतरंज की बाजी के लिए, नवाब की रक्षा के लिए नहीं।

प्रेमचंद की संस्कृति के केंद्र में मानववाद और मानवतावाद था। इसीलिए वे शोषितों को न्याय दिलाने के पक्षधर थे। अस्पृश्यता का विरोध करते हुए वे कहते हैं- 'अगर आपके देवता इतने निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता वह है, जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाए'। वे जाति और धर्म को नहीं बल्कि कर्म के आधार पर मनुष्य की पहचान को महत्त्व देते थे। प्रेमचंद ने यह भी देखा कि खाने-

पीने, रीति-नीति आदि में तो धर्म के ठेकेदार अपनी टांगें अड़ाता है, लेकिन खून, धोखाधड़ी आदि के मामले में यह मौनव्रत अपना लेता है जिससे उन्हें लगा कि धर्म ने आत्मा को जकड़ लिया है और मानव-प्रेम का अस्तित्व संकट में है। प्रेमचंद समाज में मानव-प्रेम को आवश्यक मानते थे। इसलिए वे 'कर्मभूमि' में अमरकांत के माध्यम से कहते हैं- 'मैं प्रेम के सामने मजहब की हकीकत नहीं समझता, कुछ भी नहीं'। इस उपन्यास में अमरकांत और सलीम में घनिष्ठ मित्रता है। इस संदर्भ में इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि सन 1923 में जब स्वराज दल के गठन के उपरांत स्वराज्य की मांग हुई, तो मुसलमानों के भीतर यह भय उत्पन्न हुआ कि स्वराज्य की प्राप्ति के उपरांत उनकी स्थिति और भी बदतर हो जायेगी। इस संदर्भ में प्रेमचंद ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि अपनाई है और मुस्लिम पात्र के द्वारा ही यह कहलवाया है- 'लेकिन इस ख्याल से तसल्ली होती है कि इस बीसवीं सदी में हिंदुओं जैसी पढ़ी-लिखी जमाअत मजहब गिरोहबंदी की पनाह ही नहीं हो सकती। मजहब का दौर तो खत्म हो रहा है, बल्कि यों कहो कि खत्म हो गया'। प्रेमचंद जिस भारतीय संस्कृति का पोषण कर रहे थे, उसमें समता का महत्त्व था। 'कर्मभूमि' में गजनवी कहता है- 'सबका कानून एक होगा, एक निजाम होगा, कौम के खादिम कौम पर हुकूमत करेंगे, मजहब शख्सी चीज होगी'। आज जब बात-बात पर हिंदू-मुस्लिम दंगे हो जाते हैं, न तर्क काम आता है और न विवेक, तब प्रेमचंद के सांस्कृतिक समन्वय के मनोविज्ञान और व्यावहारिकता को समझना आवश्यक है। 'कर्मभूमि' में जब सलीम अमरकांत को बंदी बनाने के लिए विवश होता है, तब अमरकांत कहता है- 'मैं तुम्हें अपना वही पुराना दोस्त

समझ रहा हूँ। उसूलों की लड़ाई हमेशा होती रही है और होती रहेगी। दोस्ती में फर्क नहीं आता। सलीम भी जैसे खून के आँसू रो रहा होता है- 'मेरे दिल पर इस वक्त जो गुजर रही है, वह मैं तुमसे बयान नहीं कर सकता। अपने जिगर पर खंजर चलाते हुए भी मुझे इससे ज्यादा दर्द नहीं होता। मैं खून के आँसू रो रहा हूँ।'

इसमें भी दो मत नहीं कि सांप्रदायिकता फैलाने वालों ने भाषा का भी प्रयोग महत्वपूर्ण हथियार के रूप में किया है। प्रेमचंद के समय हिंदी-उर्दू के विवाद को बढ़ावा देकर अंग्रेज भी अपनी 'फूट डालो राज करो' की नीति का पालन कर रहे थे। ऐसे में प्रेमचंद ने अंग्रेजी को त्यागकर भाषा में हिंदी-उर्दू के समन्वय को अधिक महत्व दिया। भाषा संबंधी प्रेमचंद की यह मिश्रित संस्कृति अद्भुत है, जिसने हिंदी साहित्य को भाषा के क्षेत्र में नया मुहावरा तो दिया ही, साथ ही भारतीय समाज को एकसूत्र में पिरोने का मार्ग भी प्रशस्त किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में मध्यकालीन जड़ता को आधुनिक संस्कृति की तर्कशक्ति से पराजित किया।

प्रेमचंद को स्त्री-विरोधी और दलित-विरोधी कहा गया। पर न प्रेमचंद स्त्री-विरोधी थे और न ही दलित विरोधी। वे तो भारतीयता और मानवता के पक्षधर थे। 1932 में प्रकाशित 'हंस' के दिसंबर अंक के संपादकीय 'बालिकाओं का सुकार्य शीर्षक' में प्रेमचंद लिखते हैं- '...स्थानीय दयानन्द हाईस्कूल में आर्य कन्या व्यायाम मन्दिर, बड़ौदा की कन्याओं का गदा, लेझम, फिरकी, तलवार, छुरे, आसन तथा अन्य व्यायाम देखकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। बालिकाएँ सभी फुर्तीली, चपल, शिक्षित तथा दक्ष थीं। उनके चेहरे से पवित्रता, सच्चित्रता तथा लगन प्रकट हो रही थी। उनका गरबा नाच, संस्कृत में कथनोपकथन दो लड़कियों का

व्याख्यान उनकी शिक्षा को व्यक्त करता था...'

'हंस' के इसी अंक में वे 'भारतीय महिलाओं में नवीन जागृति शीर्षक' में प्रेमचंद कहते हैं- 'भारतीय महिलाओं ने अपने कार्यक्रम से सिद्ध कर दिया है कि वे समाज के क्षेत्र में पुरुषों से कितनी आगे निकल गई हैं। विशेषकर जिन बंधनों में पुरुषों ने उन्हें जकड़ रखा था और उनपर शासन करते थे उन बेड़ियों को तोड़ फेंकने के लिए वह बहुत विकल हो रही हैं। शारदा बिल से मुसलमानों की एक बड़ी संख्या को तो आपत्ति है ही, हिन्दुओं में भी कुछ ऐसे पुरुष हैं जो उनका विरोध करते हैं, पर स्त्रियों ने जिनमें मुसलमान स्त्रियाँ भी शामिल हैं, एक स्वर से इस बिल का स्वागत किया है। तलाक का बिल अभी कानून का रूप नहीं धारण कर सकता और हिन्दू पुरुषों में अभी इस समस्या पर बहुत मतभेद है, पर हिन्दू महिलाएँ इसपर हर एक महिला सम्मेलन में जोर देती हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी महिलाओं ने अपने परिष्कृत सद्बिचार का परिचय दिया है। वे सार्वजनिक निर्वाचनाधिकार चाहती हैं, जायदाद या शिक्षा की कोई कैद उन्हें पसंद नहीं और राष्ट्रीय एकता का तो जितने जोरों से स्त्रियों ने हरेक अवसर पर समर्थन किया है उसपर बहुमत से हिन्दू और मुसलमान पुरुषों को लज्जित होना पड़ेगा।...भारतीय महिलाओं ने घर की चारदीवारी के अंदर जिस तरह अपनी दक्षता प्रमाणित की है, उसी तरह के राष्ट्र के विस्तृत क्षेत्र में वे पुरुषों से आगे रहेंगी।'

इससे स्पष्ट है कि प्रेमचंद स्त्रियों की स्वतंत्रता, शिक्षा तथा अस्त्र-शस्त्र में उनकी कुशलता को अहमियत देते थे। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में जिस मोक्ष का प्रश्न उठाकर जयशंकर प्रसाद ने पितृसत्ता के सामंतीशोषण से स्त्रियों की मुक्ति पर बल दिया था, उसी मुक्ति की

प्रश्नाकुलता प्रेमचंद की भी रही है। फिर भी वे स्त्रियों की स्वच्छंदता और उच्छृंखलता के पक्षधर नहीं थे। 'गोदान' में नोखेराम से अनैतिक संबंध रखकर अपने को जमींदारिन समझने वाली नोहरी का वे समर्थन नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि में निर्दयी मातादीन के लिये समर्पित सिलिया और होरी तथा घर के लिए अपना सर्वस्व होम करने वाली धनिया अधिक महत्त्वपूर्ण है- 'धनिया की मूर्ति मानसिक नेत्रों के सामने आकर खड़ी हो गई-सेवा और त्याग की देवी, जबान की तेज पर मोम जैसा दिल, पैसे-पैसे के पीछे प्राण देने वाली, पर मर्यादा रक्षा के लिए अपना सर्वस्व होम कर देने को तैयार। जवानी में वह कम रूपवती न थी। नोहरी उसके सामने क्या है? चलती थी, तो रानी-सी लगती थी।' (पृ.271)

भले ही प्रेमचंद स्त्रियों में भारतीय संस्कृति के त्याग, ममत्व, सहनशीलता, कष्टा, समर्पण आदि देखना चाहते थे, लेकिन यह सच है कि वे स्त्री सशक्तीकरण को समाज और देश के विकास के लिए आवश्यक समझते थे। 'गोदान' में मालती 'तितली' और 'मधुमक्खी' दोनों हैं, लेकिन प्रेमचंद ने मालती के मधुमक्खी वाले उस रूप को ही ज्यादा महत्त्व दिया है, जिसमें भारतीय संस्कृति के प्रेम, त्याग, संबंध-निर्वाह, निष्ठा और समर्पण का भाव है- 'खन्ना को कौतुहल हुआ। अब मालती अपने हाथों से खाना पकाने लगी है? मालती वही मालती जो खुद कभी अपने जूते न पहनती थी, जो खुद कभी बिजली का बटन तक न दबाती थी, विलास और विनोद ही जिसका जीवन था'।

मालती-मेहता और खन्ना-गोविंदी के माध्यम से प्रेमचंद भारतीय पारंपरिक संस्कृति और पूंजीवादी संस्कृति को आमने-सामने लाते हैं। खन्ना पूंजीवादी संस्कृति से परिचालित है। वह

धन का पुजारी है। रिश्वतें लेने और देने में, सिद्धांतों की हत्या करने में, किसानों की ऊख तौलते समय नकली बाट रखने में उसने कभी परहेज नहीं की। पर गोविंदी सच्चाई, न्याय, त्याग आदि को महत्त्व देती है। खन्ना के मिल के जलने के बाद वह कहती है- 'क्या बड़ी इज्जत थी? हाँ, थी, क्योंकि दुनिया आजकल धन की पूजा करती है और हमेशा करती चली आई है। उसे तुमसे कोई प्रयोजन नहीं। जबतक तुम्हारे पास लक्ष्मी है, तुम्हारे सामने पूँछ हिलायेगी। कल उतनी ही भक्ति से दूसरों के द्वार पर सिजदे करेगी। तुम्हारी तरफ़ ताकेगी भी नहीं। सत्पुरुष धन के आगे सिर नहीं झुकाते। वह देखते हैं, तुम क्या हो, अगर तुममें सच्चाई है, न्याय है, त्याग है, पुरुषार्थ है, तो वे तुम्हारी पूजा करेंगे। नहीं तुम्हें समाज का लुटेरा समझकर मुँह फेर लेंगे, बल्कि तुम्हारे दुश्मन बन जाएँगे'।

मेहता जो बुद्धिजीवी और दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर हैं, गोविंदी के समर्थक हैं। वे मालती में भी भारतीय आदर्शों और गुणों को देखना चाहते हैं। पर मालती भारतीयता के भीतर भी नई और बदली संस्कृति की संवाहिका है। वह प्रेम, विवाह, पारिवारिक संबंधों आदि का मूल्यांकन परंपरागत तरीके से नहीं करती। वह विलायत से पढ़ी हुई डॉक्टर है और आर्थिक रूप से स्वतंत्र और समर्थ है। वह चपल, चंचल और पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखती है। उसे आमोद-प्रमोद पसंद है, लेकिन वह अपने स्वत्व और अपनी अस्मिता के प्रति पूर्णतः सचेत है। उसमें परिवार के लिए अपनी समस्त ज़िम्मेदारियों का बोध है, लेकिन विवाह और परिवार के बीच वह अपने व्यक्तित्व को खत्म नहीं कर सकती। खन्ना पूंजीपति है, पर मालती की बौद्धिकता उसकी ओर नहीं झुकती, वह मेहता जैसे प्रतिभासंपन्न,

गंभीर और बौद्धिक व्यक्ति की ओर आकर्षित होती है। प्रेमचंद बदली हुई नई संस्कृति में स्त्री-पुरुष के स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्तित्व-बोध को समझ चुके थे। 'गोदान' में मालती-मेहता का बिना विवाह किए एक साथ रहना आज की 'लिव इन रिलेशन' की विचारधारा को ही दर्शाता है।

आज भूमंडलीकरण ने जिस बाज़ारवादी संस्कृति का विकास किया है, वह काफ़ी पहले प्रेमचंद की दृष्टि में आ चुकी थी- 'तंखा ने कुरसी से उठते हुए कहा- 'इसे बेईमानी कौन समझता है! आजकल यही चतुराई है। कैसे दूसरों को उल्लू बनाया जा सके, यह सफल नीति है, और आप इसके आचार्य हैं'। (गोदान) प्रेमचंद ने पूंजीवादी संस्कृति के छल-प्रपंच को समझ लिया था और उनकी दूरदृष्टि यह देख रही थी कि इस संस्कृति के कारण पारिवारिक विघटन अवश्यंभावी है। 'गोदान' में खन्ना और गोविंदी के बीच तनाव का भी यही कारण है।

महाजनी संस्कृति के ध्वंस पर प्रेमचंद जिस पूंजीवादी संस्कृति के विकास को देख रहे थे, उसमें शहरीकरण भी प्रमुख था। शहरी संस्कृति और ग्रामीण संस्कृति के अंतर को भी 'गोदान' में देखा जा सकता है- '(दुलारी) फिर कनफुसकियों में बोली पटेसरी लाला का लौंडा तुम्हारे घर की ओर बहुत चक्कर लगाया करता है। तीनों का वही हाल है। इनसे चौकस रहना। यह सहरी हो गए, गाँव का भाई-चारा क्या समझें?' शहरीकरण ने ही गोबर की मानसिकता बदल दी थी। वह दातादीन की ब्रह्मणवादी संस्कृति और होरी के मध्यकालीन नियतिवाद के विरुद्ध खड़ा हो गया था। इतना ही नहीं वह स्वहित से भी परिचालित होने लगा- 'जो सारा ज़माना करता है, वही गोबर ने भी किया। अब उसके बाल-बच्चे हुए।

मेरे बाल-बच्चों के लिए क्यों अपनी सांसत कराए, क्यों हमारे सिर का बोझ अपने सिर रखे'। (पृ.225)

पूंजीवादी संस्कृति ने पूंजीपतियों को और भी धनाढ्य बनाया और किसान मज़दूर बनकर उनके हाथों शोषित होने लगे। 'गोदान' में मिस्टर खन्ना ने भी पहले मिल से प्रोत्साहित होकर दूसरा मिल खोल लिया। आर्थिक रूप से शोषित मज़दूर यदि हड़ताल करते तो खन्ना जैसे पूंजीपति उससे कम तनखाह पर नये लोगों को भर्ती कर लेते थे, जिससे हड़ताल व्यर्थ हो जाती थी- 'हड़तालियों की संख्या देखकर नए लोग आप ही भयभीत हो जाएंगे, मगर यहाँ तो नक्शा ही कुछ और था, अगर यह सारे आदमी भर्ती हो गए, तो हड़तालियों के लिए समझौते की कोई आशा ही नहीं रहेगी'। (गोदान, पृ.259)

'गोदान' में दलित संस्कृति, दलितों के स्वत्वबोध और अस्तित्वबोध का भी मार्मिक चित्रण है- 'उसी वक्त उसकी माँ, बाप, दोनों भाई और कई अन्य चमारों ने न जाने किधर से मातादीन को घेर लिया। सिलिया की माँ ने आते ही उसके हाथ से अनाज की टोकरी छीनकर फेंक दी और गाली देकर बोली-रांड, जब तुझे मजदूरी ही करनी थी तो घर की मजदूरी छोड़कर यहाँ क्या करने आई। जब बाभन के साथ रहती है, तो बाभन की तरह रह। सारी बिरादरी की नाक कटवाकर भी चमारिन बनना था, तो यहाँ क्या घी का लौंडा लेने आई थी। चुल्लू भर पानी में डूब नहीं मरती'। (पृ.230) तात्पर्य यह कि चमारों में अलग जाति से विवाह करना या दैहिक संबंध स्थापित करना बिरादरी के विरुद्ध कार्य था। सिलिया के बाप साठ साल के हरसू का यह संकल्प कि 'मातादीन को चमार बनाकर छोड़ेंगे या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे'। दलितों के अस्तित्वबोध को

दर्शाता है। प्रेमचंद की 'सद्गति', 'दूध का दाम', 'ठाकुर का कुआँ', 'पूस की रात', 'कफ़न' आदि कहानियों में दलितों और निम्नवर्गीय किसानों का भी हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। 'सद्गति' में दुखिया चमार की मृत्यु की प्रक्रिया ब्रह्मणों के भीतर सामंती संस्कृति की क्रूरता की मार्मिक गाथा है, तो 'ठाकुर का कुआँ' में बीमार जोखू का दुर्गंध वाला पानी पीना ठाकुरों की अमानवीयता की पराकाष्ठा। 'पूस की रात' में हल्खू का नील गाय द्वारा फसलों के चरने पर यह सोचकर प्रसन्न होना कि अब पूस की रात की कड़कती ठंड में खेतों में नहीं सोना पड़ेगा, किसानों की ज़िन्दगी की मार्मिक त्रासदी है तो 'कफ़न' कहानी में भूख की पीड़ा के कारण माधव और घीसू की मनुष्यता का खत्म होना मानव-संस्कृति की कलंक-कथा है।

प्रेमचंद पितृसत्ता की सामंती मानसिकता के विरुद्ध भी खड़े दिखाई देते हैं। सामंती संस्कृति ने जिस शोषण और उत्पीड़न को बढ़ावा दिया, वह प्रेमचंद की रचनाओं में हर जगह मिलता है। 'गोदान' में दातादीन ब्रह्मणवादी संस्कृति का पोषण करता है, तो होरी और धनिया उदारवादी

विचारधारा को महत्त्व देते हैं। सिलिया को शरण देना इसी का परिचायक है। 'गोदान' में चमारों के द्वारा मातादीन को हड्डी खिलाने की घटना दलितों के विद्रोह को दर्शाती है, तो नोहरी के स्वच्छंदतावाद में आज के नारीवादी चिन्तन की झलक मिलती है। धनिया में शोषण के लिए विरोध के बावजूद भारतीय नारी का आदर्शवाद मिलता है। इस तरह प्रेमचंद ने कई विचारधाराओं और प्रवृत्तियों के फूल पिरोकर भारतीय संस्कृति की माला बनाने में अपनी अनुभूति की गहराई, दूरदर्शिता और प्रतिभा-शक्तिका परिचय दिया है। उन्होंने साहित्य का उद्देश्य निश्चित करते हुए कहा था- 'साहित्य केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा- जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है'। भाषा, पात्र, कथानक, देशकाल, वातावरण आदि में सांस्कृतिक विविधता को महत्त्व देकर प्रेमचंद ने इसी गति, संघर्ष और बेचैनी के द्वारा लोक को जगाये रखने का प्रयत्न किया है।

संपर्क : डॉ. रीता सिन्हा- एसोसिएट प्रोफेसर, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068, मो. : 9818363465

केरल की आदिवासी घुमंतू जाति मन्नान वर्ग की कला एवं संस्कृति

डॉ. प्रिया ए.

प्राचीन संस्कृति से तालमेल रखते हुए, मुख्यधारा समाज एवं सभ्यता से दूर बसनेवाली जनता को आदिवासी समाज कहा जाता है। यह वर्ग आधुनिक सामाजिक परिवर्तन से बिल्कुल अनभिज्ञ होकर जंगलों में रहता है। इनका जीवन जंगल एवं पहाड़ी इलाकों में बीतता है। आदिवासी समाज में उनके अपने विश्वास, अनुष्ठान, रहन-सहन आदि होते हैं। आदिवासी संस्कृति आध्यात्मिकता की गरिमा से मंडित होती है। वेश-भूषा, परम्परा, पूजा-विधान और सामाजिक रीति-विधान और सामाजिक रीति-नीति की विवेचना संस्कृति के अंतर्गत होती है।

केरल के आदिवासी वर्ग के अंतर्गत आनेवाला एक प्रबल गोत्र विभाग है 'मन्नान'। यह वर्ग इटुक्की जिला में ज्यादा रूप में दिखाई देता है। यह वर्ग तमिलनाडु से विस्थापित होकर केरल में आया था। माना जाता है कि भारत में त्रिपुरा और केरल के आदिवासी समुदाय में ही राजा के लिए महत्वपूर्ण स्थान होता है। केरल में मात्र मन्नान वर्ग के लिए ही राजा होता है। यह शासन व्यवस्था आज भी कायम है। राजा की राजधानी काँजीयार गाँव में स्थित कोविलमला है। इस समाज के सभी लोगों को राजा के प्रजा के रूप में माना जाता है। वे मानते हैं कि मन्नवन शब्द से मन्नान शब्द की उत्पत्ति हुई है। 'मन्नवन' का शाब्दिक अर्थ है - 'राजा'।

मन्नान की उत्पत्ति को लेकर कई कथाएँ प्रचलित हैं। इसमें से दो कथाएँ प्रमुख रूप से प्रसिद्ध हैं। पहली कथा में महाभारत कथा से इनका संबंध बताया गया है। कौरव एवं पाण्डवों के शतरंज के खेल में पाण्डव हार गए थे। पराजित पाण्डवों को वन की ओर जाना पड़ा। इस प्रकार वनवास हेतु जंगल की ओर गए हुए धर्मपुत्र के वंशज के रूप में मन्नान वर्ग को माना जाता है।

इनके उद्भव को लेकर एक दूसरी कहानी भी है। यह कथा तमिल जगत से सघन रूप से संबंध रखनेवाली है। मधुरा के आसपास रहनेवाले राजा एवं प्रजा का शासन क्षेत्र बहुत विस्तृत था। सुख-समृद्धि के साथ जीनेवाले मन्नान वर्ग के प्रति पाण्ड्य राजा के मन में घृणा की भावना जाग उठी। फलस्वरूप उन्होंने लगातार मन्नान वर्ग पर हमला किया। युद्ध के भय से मन्नान वर्ग में से कई लोग देश से भाग गए। पर अरियन, तेवन नामक दो वीरयोद्धा राजा के साथ अडिग रहे। उन दोनों ने अपने राजा की रक्षा के लिए पाण्डव राजा एवं सेना से युद्ध किया एवं हरा दिया। युद्ध में जीतने की खबर सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और अपना राज्य उन योद्धाओं को सौंप दिया। उन्होंने अरियन और तेवन को वहाँ का बादशाह भी बना दिया। इस पद की प्राप्ति के

बावजूद भी जनता की अनुपस्थिति में वे दोनों तृप्त नहीं हो पाए। युद्ध के दहशत से भागी हुई जनता को वापस लाने के उद्देश्य से उन दोनों ने खोज शुरू की। जंगल में भटककर उनकी कोशिश आगे बढ़ी। अंत में तेनी, कम्पम में ठहरकर उन्होंने खोज की। इस प्रकार इस वर्ग ने तमिलनाडु से केरल में प्रवेश किया।

कई कारणों से यह वर्ग तमिलनाडु से विस्थापित हुआ था। तमिलनाडु के मधुरा से इनका उद्भव हुआ। कहा जाता है कि इस वर्ग ने अंग्रेजों से भी लड़ाई की थी। लड़ाई के कारण उत्पन्न विपन्नता से जूझकर यह वर्ग पहाड़ों पर बसने लगा। वहीं खेती-बारी का काम भी शुरू किया। इस समुदाय में शासन व्यवस्था के आधार पर ही शासन का कार्य संभव होता है।

जंगल में रहकर, उसी भूमि पर खेती का काम भी करते थे। कृषि की ज़मीन बदलने के अनुसार उनके ठहरने की जगह भी परिवर्तित होती है। वर्तमान समय में कई तरह की विस्थापन की समस्याओं के कारण जंगल में इनका रहन-सहन कठिन हो गया है। अब यह वर्ग घुमन्तू बनकर खेती करके, पालतू जानवरों को पालकर, जंगल के संसाधनों की उपयोगिता करके जीवन बिता रहा है।

इस समुदाय में प्रेम, खुशी एवं मेल के संदेश को संप्रेषित करनेवाला एक अनुष्ठान पर्व है कूटपणी या पोतुप्पणी। यह अनुष्ठान कृषि से जुड़ा हुआ है। खेती की शुरुआत में इसे मनाया जाता है। इसमें सबसे पहले कुल की देवताओं के लिए खाद्य पदार्थों को बनाकर रखा जाता है। मुर्गा की बलि भी चढ़ाई जाती है। प्राकृतिक प्रकोप से, पक्षी एवं जंगली जानवरों से खेती को बचाए रखने का लोक विश्वास ही इस आचार का आधार बना हुआ है। माँत्रिक द्वारा इसकी

पूजा विधियाँ की जाती हैं। माँत्रिक को 'प्लात्तिक' कहा जाता है।

मन्नान वर्ग का विश्वास है कि यह प्लात्तिक ही अपनी भूमि का रखवाला होता है। इसके बाद अपने स्वामि के लिए खेती का काम किया जाता है। राजा से लेकर आम जनता तक के लिए खेती का काम किया जाता है। मुख्यतः रागी की खेती की जाती है। इसके साथ ही बाजरा, चावल एवं ज्वार की खेती भी करते हैं। वर्तमान समय में कई प्रकार के फसलों की खेती भी करता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक इनका जीवन विभिन्न प्रकार की लोक प्रथाओं से युक्त रहता है।

मन्नान वर्ग की कला को 'मन्नान कूत्त' कहते हैं। कुम्भ-मीन के महीने में इसका आयोजन होता है। मन्नान समुदाय की राजधानी इटुक्की के कोषिमला में गाँव के सभी लोग सम्मिलित होते हैं। राजा की सभा में हर वर्ष इसका आयोजन किया जाता है। कालावूट महोत्सव के साथ ही इसकी शुरुआत होती है। 'काला' का अर्थ है - कृषि भूमि। 'वूट' का अर्थ है - पोषित करना। जंगल की भूमि को कृषि योग्य बनाने के अवसर पर कूत्त खेला जाता है। इसके अलावा विवाह, मृत्यु आदि के समय भी इसका आयोजन होता है।

तमिल साहित्य के महाकाव्य के रूप में प्रसिद्ध चिलप्पतिकारम की कहानी के आधार पर ही कूत्त का इतिवृत्त रचा गया है। कोवलन (कोवलन) और कण्णकी (कन्नकी) का चरित ही इसमें वर्णित हुआ है। चिलप्पतिकारम में कोवलन और कन्नकी के विवाह से कथा शुरू होती है। पर कूत्त में कहानी का आरंभ कोवलन और कन्नकी के जन्म से होता है। पञ्चन पुलान और पेरियानकन नामक दो भाई को कूत्त का आविष्कारक माना जाता है।

कूत्त की कहानी कथन एवं गीत के साथ

आगे बढ़ती है। पचासी गीत, इक्कासी स्तुतियों एवं संवादों से इसकी प्रस्तुति होती है। सात दिनों की अवधि में ही कूत की कहानी पूरी होती है। हर दिन इसका अंत विशेष संदर्भ में होता है। यह एक लोक कला रूप है। कई प्रसंगों से इसका अवतरण होता है - ईश्वर की स्तुति, गुरु स्तुति, राजस्तुति आदि क्रमों से इसकी प्रस्तुति होती है। इसके बाद कथा का आरंभ होता है। वायपातम चेट्टी और वरणमाला का विवाह, कोवलन का जन्म, कन्नकी का जन्म, कोवलन और कन्नकी का विवाह, मातकी और कोवलन की मुलाकात, उनका बिछुड़न, अपने घर में कोवलन की वापसी, मातकी का ऋण चुकाने के लिए कोवलन और कण्णकी की जीवन यात्रा, कोवलन की मृत्यु आदि प्रसंगों के क्रमिक विकास से कहानी संपन्न होती है।

मन्नान कूत के बीच विदूषक का रंग प्रवेश होता है। मनोरंजन के उद्देश्य से ये पात्र दर्शकों के सामने आते हैं। मन्नान कूत में स्त्री के वेष में और पुरुष के वेष में दो पात्र आते हैं। कूत के अन्तर्विराम के समय ही ये पात्र आते हैं। स्त्री विदूषक के हाथ में पुआल से बना हुआ एक बच्चा होता है। पारिवारिक परिवेश को सजाकर विदूषक अपनी भूमिका निभाते हैं। पति-पत्नी के बीच के संवाद में पत्नी पति को लगातार अपराधी बनाकर शिकायत करती रहती है; पति अलस मनोभाव का व्यक्ति होता है।

पुरुष पात्र का शरीर बोरे से बाँधा जाता है। चेहरे रंगों से सजाया जाता है। हाथ में एक डंडा होता है। स्त्री विदूषक का वेष धोती और चोली है। पुरुष ही स्त्री वेष में आते हैं। कूत में विदूषक का प्रवेश कोवलन की कहानी के साथ

होता है।

मन्नान कूत में कन्नियाट्टम स्त्रियों द्वारा खेला जाता है। हाथों को आगे की ओर पसारकर, बालों को बिखराकर, सिर को घुमा-फिराकर यह खेला जाता है। कौसा बनाकर जीवन बितानेवाले सात कन्नानों की कहानी इसमें व्याख्यायित होती है। कन्नियाट्टम के समय गानेवाले गीत को बहुत ही सावधानी से गाया जाता है। गायक यह विशेष ध्यान रखता है कि गीत गाते वक्त कोई त्रुटियाँ न आए। उनका विश्वास है कि गाते समय कोई त्रुटियाँ आयी तो ईश्वर का शाप मिलता है।

घुमंतू जनजातियाँ निरंतर भौगोलिक गतिशीलता बनाए रखती हैं। देश की आज़ादी के 74 वर्षों के बाद भी घुमंतू जनजातियों को अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़नी पड़ती है। यह वर्ग हमारी मौखिक इतिहास और ज्ञान की समृद्ध परम्परा को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लेकर जाते हैं। इन्हें कई प्रकार की जड़ी-बूटियों का ज्ञान और परम्परागत तरीके की चिकित्सा पद्धति से विभिन्न रोगों के इलाज करना भी मालूम है। केरल का मन्नान समाज अपनी लोक-संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखे हुए हैं। अपनी कला एवं संस्कृति आदिवासियों के जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है। उसके बिना उनका जीवन निरर्थक ही है। विरोधी समय में भी अपनी संस्कृति के माध्यम से उन्हें जीने की प्रेरणा मिलती है। मन्नान समुदाय का बहुमुखी अवदान बाह्य और आभ्यंतर कलाओं एवं विधाओं की वाहिका बनकर इस परवर्ती समय में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। इसके फलस्वरूप केरल की लोक संस्कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाहित होती रहती है।

संपर्क : डॉ. प्रिया ए., असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, के.जी. कॉलेज, पाम्पाडी, कोट्टयम,
केरल-686502, मो : 9447294227, Email : priyauday111@gmail.com

आर. के. लक्ष्मण के कार्टूनों में आम-आदमी की छवि

श्रीप्रकाश पाल, डॉ. मो. नवाज़ खान

सारांश

आर. के. लक्ष्मण में बचपन से चित्रांकन करने का जुनून था। उन्हें घूमने-फिरने की पूरी आजादी थी। वे बचपन में आसमान में बादलों को देखा करते थे, तो उनमें उन्हें बड़ी-बड़ी आकृतियों ने उनसे कहा 'तुम दुनिया में जाओगे तो अपनी कलम और तूलिका से ऐसे चुभते हुए कार्टून बनाओगे, जिनमें लोगों को अपनी विकृतियों के दर्शन हो सकें, जिन्हें देखकर लोग तिलमिला उठेंगे।' आर. के. लक्ष्मण के कार्टूनों में दिखने वाले आम आदमी के प्रति लोग जिज्ञासु होंगे। जब देश 1947 में विभाजन हुआ था तो उसी साल लक्ष्मण ने 'फ्री प्रेस जर्नल' में दाखिला पाया। इस देश में आम-आदमी के सामने बड़ी-बड़ी समस्याएं, गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी थी। लेकिन आम आदमी के पास कोई आवाज न थी, दरअसल उस वक्त लक्ष्मण को लगा आम-आदमी को कोई आवाज मिलनी चाहिए। लक्ष्मण जो कार्टून बनाते थे उसमें लोगों की भीड़ होती थी। अखबार में काम करने वाले आदमी के लिए वक्त की पाबंदी का होना जरूरी है। लक्ष्मण कहते हैं, धीरे-धीरे मेरे कार्टूनों में आम आदमियों के आकृतियों की तादाद घटने लगी-बीस से पंद्रह, पंद्रह से दस, दस से पांच और फिर उनमें से एक आदमी रह गया, जो सबका प्रतीक बन गया। वह दिन था 24 दिसंबर 1951 को आम आदमी का जन्म हुआ। प्रस्तुत शोध आलेख में आर. के. लक्ष्मण के कार्टूनों पर अध्ययन किया गया है और आम आदमी को समझने की कोशिश की गयी है। इस शोध आलेख में प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों का उपयोग किया गया है और गुणात्मक शोध प्रविधि का उपयोग करते हुये अंतर्वस्तु विश्लेषण किया है।

शोध केन्द्रित शब्द : आर. के. लक्ष्मण कार्टून, आम आदमी, हास्य आदि।

विस्तार

लोगों के मन में ख्याल आता है कि मैं एकांतप्रिय हूँ, सनकी हूँ। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं है। हाँ, बेमतलब की बातों में वक्त जाया करने वाले व्यक्ति



मुझे कतई पसंद नहीं हैं। मैं अपने काम को साधना मानता हूँ, जिसके लिए बड़ी तीव्र एकाग्रता की आवश्यकता होती है। मसलन इधर-उधर बेवजह घूमना, लोगों से छेड़छाड़ करना, बातें करना। दरअसल खाली समय में पूरी तरह से गैर जिम्मेदार हो जाना, सब कुछ मेरी आदत में नहीं है। लक्ष्मण कहते हैं 'मेरे कार्टूनों का आम आदमी वैसे तो करोड़ों का प्रतिनिधि है, लेकिन उसके पास सिर्फ एक ही

आवाज है-खामोशी की आवाज। वह रोज़मर्रा कि जिंदगी और उसकी समस्याओं से बौखलाया हुआ है। वकौल लक्ष्मण,उनकी कंपनी के मैनेजर पीसी जैन ने एक बार उनसे से कहा कि 'यदि मैं आम आदमी की दृष्टिकोण से उसकी समझ को ध्यान में रखकर कार्टून बनाऊं तो वे बहुत लोकप्रिय और पठनीय होंगे। तब मैंने आम आदमी की शुरुआत की। लक्ष्मण बताते हैं कि 'मेरा आम आदमी बेहद असदार है। वह आम जनता के हर दुख-दर्द से वाकिफ है और देश की अस्सी फीसदी जनता की तरह सब कुछ चुपचाप देखते रहने को मजबूर है।' आर. के. लक्ष्मण का जन्म 24 अक्टूबर 1921 को मैसूर में हुआ था। उनका पूरा नाम रासीपुरम कृष्णस्वामी अय्यर लक्ष्मण था। पांच वर्ष की उम्र से ही स्केचिंग करने वाले लक्ष्मण 12-13 की उम्र में अखबारों में छपने लगे थे। आर. के. लक्ष्मण के कार्टून में हमेशा टुकुर-टुकुर देखता एक आम आदमी होता था, जो केवल दृष्टा था और जो कभी नहीं बोला।

आर के लक्ष्मण वैसे ही उसके भीष्म पितामह थे जिस तरह से हिन्दी व्यंग्य के भीष्म पितामह हरिशंकर परसाई थे। उसी तरह आम आदमी और उसकी दशा लगातार 60 सालों तक वैसी ही बनी रही। वह हतप्रभ सा सब-कुछ



होते देखता रहा क्योंकि वह अकेला रहा। आम आदमी को अकेले-अकेले रखा गया है। उसके पास परम्परा की धोती है जिसकी सीमा इतनी है कि

टखने उघड़े रहते हैं, पर उसके पास देह का ऊपरी भाग ढकने के लिए चौखाने वाली वंडी या कोट है जो बन्द गले का है। इस आम आदमी के पास गांधी जैसा धातु के गोल फ्रेम का चश्मा है क्योंकि वह साफ-साफ देखना चाहता है। इस आम आदमी के पास एक छाता होता था। छाता धूप और बरसात से रक्षा के लिए होता है। आम आदमी की रीढ़ हमेशा सीधी रही क्योंकि यह आम आदमी कभी झुका नहीं। कार्टून कला सामाजिक सरोकारों से सम्बन्ध रखती है। लक्ष्मण भी इसी आम आदमी की तरह रहे न तो उनकी रीढ़ कभी झुकी और न ही वे कभी झुके। जिस जे. जे. स्कूल आफ आर्ट ने यह कहकर उन्हें एडमिशन देने से मना कर दिया था कि आप में टेलेंट की कमी है उसी स्कूल में दस साल बाद वे बतौर चीफ गैस्ट बुलाये गये थे। उन्होंने गांधी, नेहरूजी से लेकर चर्चिल, ख़श्चेव और मोदी तक हर सत्ताधीश के कार्टून बनाये। उन्हीं के शब्दों में कहें तो उन्हें अफसोस इस बात का रहा कि ज्योति बसु उनके लिए बहुत मनहूस रहे जिन्होंने उन्हें कभी कार्टून बनाने का अवसर नहीं दिया। आर. के. लक्ष्मण 'कॉमन मैन' की रचना और द टाइम्स ऑफ़ इंडिया के लिए उनके प्रतिदिन लिखी जानी वाली कार्टून शृंखला 'यू सैड इट' के लिए जाना जाता है। लक्ष्मण के आम आदमी का कार्टून पहली बार 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' में 1951को छपा। उसी के कारण वे देश के सबसे बड़े मीडिया संस्थानों में से एक के प्रमुख अंग्रेजी अखबार पर लगातार 68 सालों तक छाये रहे और पूरी दुनिया में रिकार्ड बनाया। उनके कार्टूनों को दूसरे अनेक अखबार और पत्रिकाएं पुनर्प्रकाशित करते रहे।

वर्तमान समय में कार्टून की लोकप्रियता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। इसके बिना तो

पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी लगती हैं, जैसे- 'मांग में बिना सिंदूर भरी सुहागिन स्त्री'। कार्टूनिस्ट पत्रकारिता क्षेत्र का महत्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। कार्टूनिस्ट एक ऐसा प्राणी होता है, जो अपनी आड़ी-तिरछी लाइनों और चंद शब्दों के माध्यम से अपनी बात को लोगों तक पहुंचाने में सक्षम होता है, वह जनता और पाठकों का वास्तविक प्रतिनिधि होता है। कार्टूनिस्ट एक रोशनदान की तरह होता है, जो लोगों की तकलीफ को दूर करके अच्छी हवा अंदर भरता है।

कार्टून एक 'विजुअल' है। कार्टून का असर तीखा एवं धारदार होता है क्योंकि आज विजुअलाइजेशन का जमाना है। विजुअल का प्रभाव स्थायी होता है। और कार्टून की अपील विजुअल होती है। वह दृश्यात्मक-सादृश्यता के आधार पर समसामयिक घटना-प्रसंगों, मुद्दों, विसंगतियों पर टिप्पणी करता है। इसलिए इसका प्रभाव दीर्घकालिक एवं जनसमूह को प्रभावित करने वाला होता है। देश के हजारों लोग लक्ष्मण के द्वारा निर्मित किए गए कार्टून के लिए ही टाइम्स ऑफ इंडिया खरीदते थे और लाखों लोग इस अखबार में सबसे पहले उनके कार्टून को देखते थे उसके बाद अन्य खबर पढ़ते थे। वे निर्भय थे और कार्टून बनाने में कोई लिहाज नहीं करते थे, पर एक कुशल सर्जन की तरह केवल रोगग्रस्त भाग पर ही नशतर चलाते थे। कह सकते हैं कि उनका कार्टून मंत्र की तरह होता था जिसके सहारे समझ के खजाने को खोला जा सकता था। मुझे चुनावों के दौरान बनाया गया उनका एक कार्टून याद आता है। जिसमें किसी गाँव में किसी पेड़ के सहारे चार छह ग्रामीण फटेहाल अवस्था में बैठे हैं और कोई सत्तारूढ़ नेता हाथ में माइक लिए अपने द्वारा किये कामों को बखान रहा है तो ग्रामीण आपस में कहते हैं कि हमारे

लिए इतना कुछ हो गया और हमें पता ही नहीं चला। आर. के. लक्ष्मण भारत के एक प्रमुख व्यंग्य-चित्रकार रहे हैं। आम आदमी की पीड़ा को अपनी कूची से गढ़कर, अपने चित्रों से इसे वे तकरीबन पिछले पचास सालों से लोगों को बताते रहे थे। असाधारण व्यक्तित्व के धनी आर. के. लक्ष्मण ने वक्त्र की नब्ज को पहचान कर देश, समाज और स्थितियों की अक्कासी की। लक्ष्मण के कार्टूनों की दुनिया व्यापक है और इसमें समाज का चेहरा तो दिखता ही है, साथ ही भारतीय राजनीति में होने वाले बदलाव भी दिखाई देते हैं। आम आदमी सिर्फ जिंदगी की मुश्किलों से लड़ता है, उसे चुपचाप झेलता है, सुनता है, देखता है, पर बोलता नहीं, यही वजह है कि आर. के. लक्ष्मण का आम आदमी ताउम्र खामोश रहा। आर. के. लक्ष्मण का आम आदमी शुरू-शुरू में बंगाली, तमिल, पंजाबी या फिर किसी और प्रांत का हुआ करता था लेकिन काफ़ी कम समय में आम आदमी की पहचान बन गया। ये कार्टून टेढ़ा चश्मा, मुड़ी-चुड़ी धोती, चारखाना कोट, सिर पर बचे चंद बाल। लक्ष्मण का आम आदमी पूरी दुनिया में ख़ास बन गया था।

सन 1885 ई. में लक्ष्मण ऐसे पहले भारतीय कार्टूनिस्ट बन गए जिनके कार्टूनों की एकल प्रदर्शनी लंदन में लगाई गई। उसी यात्रा के दौरान वो दुनिया के जाने-माने कार्टूनिस्ट डेविड लो और इलिंगवॉर्थ से मिले। ये वो शख्स थे जिनके कार्टून को देखकर लक्ष्मण को कार्टूनिस्ट बनने की प्रेरणा मिली थी। आर. के. लक्ष्मण के कॉमन मैन वाले किरदार का डाक टिकट 1988 में जारी किया गया। सन 1997 में वे एक प्रदर्शनी के उद्घाटन के लिए भोपाल आये जिसमें तत्कालीन मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह को मुख्य अतिथि होना था। जब उन्होंने उन्हें नाश्ते पर

आमंत्रित किया तो उनका रूखा सा जबाब था कि मैं नाश्ता कर चुका हूँ और फोन रख दिया। इसके बाद कला और पत्रकारिता जगत का विशेष सम्मान करने वाले मुख्यमंत्री ने स्वयं ही उनके होटल पहुँच कर उनसे भेंट की और अचानक ही हाईकमान का बुलावा आ जाने के कारण शाम के कार्यक्रम में न आ पाने के लिए क्षमा मांगी। भोपाल के लोग तब लक्ष्मण और उनके कार्टून की ताकत से अभिभूत हुये।

सूक्ष्म के सहारे विराट का परिचय कराने और उसमें अपनी दृष्टि को डाल देने की जो कला लक्ष्मण के पास थी। बहुत सारे दूसरे कार्टूनिस्टों के कार्टूनों में अगर कैप्शन न हों तो उनका व्यंग्य और कथन समझ में ही नहीं आता। लेकिन आर. के. लक्ष्मण के कार्टूनों में रेखाओं और बिन्दुओं के सहारे न केवल व्यक्तियों की पहचान की जा सकती है बल्कि उनकी प्रवृत्तियों को भी देखा जा सकता है। इन्दिरा गांधी की पहचान उनकी लम्बी नाक से थी पर लक्ष्मण के कार्टूनों में वह और अधिक लम्बी हो जाती थी क्योंकि इन्दिरा गांधी अपनी नाक हमेशा ऊँची रखने के लिए मशहूर रही हैं। विसंगति की पहचान के लिए समाज हितैषी राजनीति की समझ और समाज विरोधी तत्वों की जैसी पहचान लक्ष्मण के कार्टूनों में मिलती है।

लक्ष्मण की काबिलियतका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि लंदन का अखबार 'दि इवनिंग स्टैंडर्ड' ने उन्हें एक समय डेविड लो की कुर्सी संभालने का ऑफर दिया था। लक्ष्मण के कार्टून फिल्मों में भी इस्तेमाल हुए। फ़िल्म 'मिस्टर एंड मिसेज' और तमिल फ़िल्म 'कामराज' के लिए लक्ष्मण ने कार्टून बनाए। लक्ष्मण के बड़े भाई आर. के. नारायण की कृति 'मालगुडी डेज' को जब टेलीविज़न पर दिखाया

गया तो उसके लिए भी लक्ष्मण ने स्केच तैयार किये। लक्ष्मण का आम आदमी उस वक़्त फिर ख़ास हो उठा जब डेक्कन एयरलाइंस की सस्ती विमान सेवा शुरू हुई। एयरलाइंस के संस्थापक कैप्टन गोपीनाथ अपने सस्ते विमान के लिए प्रतीक चिह्न की तलाश में थे और इसके लिए उन्हें लक्ष्मण के आम आदमी से बेहतर कुछ और नहीं मिल सकता था। लक्ष्मण का आम आदमी पूरी दुनिया में ख़ास बन गया था। दुनिया के सबसे बड़े कार्टूनिस्ट डेविड लो से लक्ष्मण बहुत प्रभावित थे। अपने जीवन वृत्तांत 'द टनेल ऑफ़ टाइम' में आर के लक्ष्मण ने बताया कि वह बचपन में डेविड लो के नाम को 'काउ' पढ़ा करते थे। बचपन से ही चित्रों और कार्टून से लगाव रखने वाले आर के लक्ष्मण को स्कूली दिनों में पीपल के पत्ते पर बनाए एक चित्र को उनके शिक्षक ने ख़ूब सराहा था। तभी से उनका कार्टून और चित्रों से लगाव बढ़ता चला गया।

लक्ष्मण कहते हैं कि कार्टूनिस्ट कि बीरबल या तेनालीराम जैसे दरबारी मसख़रों से तुलना नहीं की जा सकती। उसी तरह एक प्रजातांत्रिक ढाँचे में उसकी भूमिका काफी बदली हुई है। उसका काम होता है अभिव्यक्ति के अधिकार का प्रयोग करते हुए व्यंग्य करना। यानि सत्ता की तलवार के नीचे रहकर डरते हुए नहीं, बल्कि अपने जन्म प्रसिद्ध अधिकार की तरह व्यंग्य करना। उसे आलोचना का भर्त्सना व शिकायत का और प्रशासन व नेताओं के कामकाज में विसंगतियां दिखाने का। वे आगे कहते हैं कि 'कार्टून बनाना शिकायत करने और असहमति जताने की कला है। इस कला के तहत मज़ाकिया तेवरों में चीजों यानि मुद्दों की एक स्वस्थ जांच-पड़ताल की जाती है। सच बताऊँ कार्टूनकार अभिशप्त जीव होते हैं, जिन्हें कभी चैन नसीब नहीं होता। मैं किसी

विचारवाद को स्वीकार नहीं करता। मैं कोई मिशनरी भी नहीं हूँ। दुनिया के चलन को तोड़कर उसे अपने मन माफिक बनाने की मेरी कोई इच्छा भी नहीं है। मेरी कोई प्रतिबद्धता भी नहीं है। मैं रचना करता हूँ। मैं कोई चिकित्सक नहीं हूँ कि दुनियाँ की बीमारियों का इलाज कर सकूँ। मेरे पास एक ही दवा है वो है, कार्टून। कार्टूनिस्ट एक रोशनदान की तरह होता है, जो लोगों की तकलीफ को दूर करके अच्छी हवा अंदर भरता है।

निष्कर्ष -

कार्टून का स्थान एक समाचार से भी अधिक अपील करने वाला होता है, क्योंकि बहुत से ऐसे पाठक होते हैं जो समाचार के पढ़ने के

बजाय सबसे पहले कार्टून को देखना पसंद करते हैं। इसलिए अखबार में कार्टून छपना बेहद आवश्यकता होती है। कार्टूनों की यही विशेषता हमें आम आदमी को फिर से एक विषय-वस्तु के रूप में पेश करने में मदद करती है। कार्टून चंद शब्दों के माध्यम से अपनी बात को कहने की ताकत रखता है। कार्टून इसलिए लोग पसंद करते हैं क्योंकि इसमें हास्यास्पद कला है, जिसके माध्यम से अपनी बात को कहता है। वह हमें जताता है कि अपनी विकृतियों को पहचान कर उन पर हंस सके। जब मनुष्य हँसता है तो उसके अंदर की सारी थकान दूर हो जाती है।

संपर्क : पीएच. डी. शोधार्थी, जनसंचार विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, दोईमुख, अरुणाचल प्रदेश -791112, मो : +918933911283 अणुडाक: shriprakashp204@gmail.com

मैं तेजी से टैक्सी की ओर बढ़ रहा था फ्लाइट थोड़ी लेट हो गई थी तभी आवाज आई 'सर टैक्सी चाहिए- एक टैक्सी वाला पूछ रहा था - 'सान पाड़ा चलोगे?'

'जी सर मैं उधर ही नेरूल में रहता हूँ। अभी टैक्सी लेकर आया।' वह टैक्सी लाने चला गया था। कहीं भी बाहर जाते समय मैं अपनी कार से ड्राइवर के साथ एयरपोर्ट चला जाता था, लेकिन एक नियम सा बना लिया था कि लौटते समय-असमय अपने ड्राइवर को न बुला टैक्सी से लौटना पसंद करता था। साथ ही टैक्सी में चुपचाप बैठने के बजाय टैक्सी ड्राइवर से बातें करना, उनके दुख-सुख जानना अधिक पसंद करता था। मेरा ऐसा विश्वास था कि इससे टैक्सी वालों को भी खुशी मिलती है साथ ही एयरपोर्ट से एक घन्टे का समय भी बातों ही बातों में गुजर जाता है। तरह-तरह के किस्से कहानियां उनके अनुभव, मजबूरियाँ दुख सुख भी पता चलते, मन में यह जज्बा भी था कि कभी कोई जरूरत मंद टैक्सी ड्राइवर होतो उसकी मदद भी करूँ, परंतु इतिफाक से ऐसा मौका नहीं आया था अभी तक तो।

टैक्सी चल पड़ी थी अपनी आदतानुसार मैंने बातचीत का सिलसिला शुरू कर दिया था। "क्या नाम है, कहाँ के हो?" संजय बता रहा था- साहब मैं रहने वाला तो उत्तर प्रदेश का हूँ, घर में बड़ी गरीबी थी काम के बाद भी मुश्किल से जुगाड़ हो पाता, वह तो मेरे साथी ने मुझे गाड़ी चलाना सिखा दिया, जिससे कुछ कमाई तो हो जाती, एक बार एक सेठ के साथ अपना भाग्य आजमाने इस महानगरी तक आ पहुँचा था, घर न लौटकर यहाँ कोशिश की काम भी मिल गया परंतु साहब बड़ी महंगी नगरी है मुंबई। काम और पैसा दोनों ही यहाँ हैं, बचत मुश्किल से होती है। घर के लिये भी पैसे भेजने होते हैं।"

वह अपनी रौ में बताए जा रहा था, मैं श्रोता बना उसकी बातें सुनता जा रहा था।

छः साल से साहब यहाँ टैक्सी चला रहा हूँ इतनी कमाई तो हो जाती है कि एकबार साल में घर भी हो आता हूँ पिछले वर्ष महामारी के कारण घर भी नहीं लौट पाया मेरी बिटिया भी अब दो साल की हो गई है। उसको पहली बार बड़ी हुई देखूँगा। टैक्सी तो बंद के कारन नहीं चली एक गुरुद्वारे में सेवा कार्य करता रहा खाने रहने का जुगाड़ हो गया था, सबके साथ यहाँ की बोलचाल की भाषा टूटी फूटी अंग्रेजी भाषा भी सीखी जिससे सवारियों को उनके स्थान तक आसानी से पहुँचा सकूँ।"

वह थोड़ी देर को थमा जैसे सांस लेने को रुका हो फिर शुरू हो गया -

शायद वह इसी इंतजार में था कोई उसके भी हालचाल जाने जिसकी पुरुआत तो मैंने टैक्सी में बैठते ही कर दी थी।

“साहब इस शहर के रंग ढंग बड़े ही अजीब हैं जिंदगी में जो कभी सोचा भी नहीं था वह सब देखने को मिल रहा है। न जाने कितने कड़वे-मीठे अनुभव हुए हैं। इन सालों में। हाँ एक घटना भुलाएँ नहीं भूलती वही आपको बताना चाहता हूँ। रात के समय हम टैक्सी वाले उसी जगह सवारियों लेते हैं जिसके पास ही हमारा घर होता है, कई दफा कोई सवारी नहीं होती तो मायूसी होती है पेट्रोल का खर्च भी मथ्थे मढ़ाता है। पर धंधा करना है तो रिस्क तो लेना ही पड़ता है न साहब?”

उसे उत्तर की अपेक्षा थी तो हामी भर दी ‘ठीक कहते हो जेब पर भारी पड़ता है। बिना रिस्क तो जीवन में आगे बढ़ना सम्भव भी नहीं।’ तुम्हीं सोचो यदि उस सेठ की गाड़ी से मुंबई आने का निर्णय न लिया होता तो उसी गरीबी लाचारी से जीवन बिताते न? इस शहर के रहन सहन, कहानियों अनुभवों को कैसे समझते?”

“सच कहते हैं सर आप! यहाँ आकर जीवन सुधर गया अब तो मैंने अपने बेटे को भी वहाँ के अच्छे अंग्रेजी स्कूल में भर्ती करा दिया है जिसको कभी सपने में भी नहीं सोचा था आप विश्वास करें हमें तो आपने गाँव की ही भाषा आती थी पर यहा रहकर मराठी और गुजराती अंग्रेजी के शब्दों की भी बोलचाल की भाषा थोड़ी-थोड़ी हमें आ गई है। थोड़ा विदेशियों की बात समझनी पड़ती है, साहब विदेशी तो हमसे टूटी फुटी हिन्दी में भी बात कर लेते हैं परंतु अपने देस के अंग्रेजी के पिट्टू हिन्दी में बोलने में अपना अपना अपमान समझते हैं। आप जैसी सवारी कहा मिलती है साहब जो हमारी बातें सुने? ड्राइवर है तो क्या

हुआ? हम भी इंसान हैं हमारे भी जज्बात हैं हमें लेना-देना भी क्या है किसी से चार मिले बोलों की अपेक्षा है बस।”

“यही तो आदमी का सबसे बड़ा गुण है संजय। कोई किसी को क्या समझाये कुछ लोगों पर रइसी का चश्मा चढ़ जाता है, नीचे देखना ही नहीं चाहते।”

“एकदम ही सही कह रहें हैं आप साहब। कुछ दिन पहले की ही बात है लॉकडाउन खुला गया था वहीं की सवारियों ने टैक्सी बुक की उन्हें नरूल जाना था, मन खुश हो गया खाली टैक्सी वापस नहीं ले जानी होगी, जोड़े को लेकर चला था जैसी अभी गाना बजा रहा हूँ उस दिन भी रिकार्ड चालू था। ऐसे में नींद नहीं आती मुँह में भी कुछ चबाता रहता हूँ जिससे झपकी न लगे। दिन भर की थकान रहती ही है यहाँ की मंहगाई से निपटने के लिये दिन भर मेहनत करता हूँ। साहब आपको वह किस्सा बताते हुए भी शर्म आ रही है। हम गाँव के आदमी हैं जो काम हम अपनी बंद कोठरी में करते हैं। वे खुले आम पीछे बैठे करने में शर्मा नहीं रहे थे, एक दूसरे से लिपटे प्रेम में लीन, यह भी नहीं कि टैक्सी में ड्राइवर भी है मेरा मन न जाने कैसा कैसा हो गया था, हम तो गाँव के आदमी ठहरे सब के सामने आपकी पत्नी का हाथ पकड़ पास बुलाने में भी संकोच होता है सोंचेगे कितना बेशर्म है, लिपटना तो बड़ी दूर की बात है। वे तो घर ही लौट रहे थे कैसा उतावले थे, अंग्रेजी शराब की बाटले उन्होंने खोल कर निधड़क पीते चले गये फिर बहक चले अंग्रेजी में जो कर रहे थे वह तो हम समझा नहीं पर लग रहा था गाली गलौज पर उतर आये थे कुछ गन्दी देसी गालियाँ भी निकली माँ-बहन की समझ में आयी वे आपस में लड़ाई में उतर आये थे हमारे यहाँ ऐसी गाली

बकने वालो को कुंजडा कहते है। हम तो ड्रायवर थे साहब कुछ कहने की हमारी क्या दम हमे तो किराये से मतलब था खराब तो बहुत लग रहा था कितनी मजबूरी थी क्या क्या नही देखना सुनना होता इस धंधे में? मुंह मे पट्टी बांध कान बंदकर बस आंखे खुली रख सवारियों को उनके घर तक पहुँचाना होता है। संजय तुम्हारी हिन्दी बड़ी अच्छी है, बहुत साफ हिन्दी बोलते हो वह खुश हो गया खुशी से बोला - हिन्दी तो हमारी मातृभाषा है, नाहक ही देश में भाषा पर विवाद होती है, ऐसी सुन्दर सुलभ भाषा है हिन्दी। तुलसी बाबा की रामायण में कितनी मिठास भरी सच्ची बातें लिखी है खरी-खरी कहने मे भी नही चूके हैं।

“होइ है सोइ जो राम रचि राखा, को वरि तरफ बढावई साखा” “आप तो पढ़े लिखे हैं साहब। आपके आगे ख्यामहावाह शान बधार रहा हूँ साहब माफ करना आपने मेरी बात सुनी।” “अरे नही। अच्छी लग रहा है तुमसे बाते करके, अच्छे बातें कर रहें हो तुम्हे अच्छे संस्कार मिले है।”

“हाँ साहब ! अरे तुरे की भाषा नहीं बोलने दी गरीबो में भी पढाने को भेजा ज्यादा कहाँ पढ-पाया-पांचवी पास कर मैं भी काम में हाथ बटाने लगा था। यहां की भाषा तो वल्ला-वल्ला है हम भी जैसी सवारी वैसी भाषा बोल लेते है। आपकी शद्ध हिन्दी भाषा सुन बडा अच्छा लगता है आप भी हमारे देस के है।”

हाँ सही पहचाना हम भी यु.पी के ही है। वह खुश हो गया वही तो साहिब अपने लोगो को देख दिली खुशी होती है।

“हाँ ठीक कहते हो अपनी जन्म भूमि वहाँ की मिट्टी प्यारी लगती है फिर अपने देश का आदमी मिल जाय तो क्या कहने” उसने बातों

का सिलसिला बदला हो साहब मैं उस दिन की रात वाली सवारियों का किस्सा बता रहा था न तो साहब महिला तो गिलास पर गिलास गले के नीचे उतार नशे में धुत अया बाय बके जा रही थी, साहब होश में थे। उन्होंने कहा - “देखो! मुझे यहीं वासी मे उतार दो, मैडम को नरूल में उतार देना।” इतनी रात को सच जानिए साहब हमें बड़ा अजीब लगा था। भला वे दोनो एक जगह न उतर कर अलग अलग क्यों उतर रहे है? खैर हमें क्या करना था हमारी क्या हस्ती थी उनसे सवाल करने की? सोचा कोई जरूरी काम होगा हमने तो सर हिला कर हामी भर दी थी। साहब तो वासी मे टैक्सी रूकवा उतर गये, रह गई अर्ध बेहोशी मे डूबती उतराती वो मैडम पीछे की सीट पर। उन्हें लेकर नेरूल पहुँचा, मैडम नेरूल आ गया। बताइये किधर चलना है” लेकिन वे तो नशे मे धुत थी बताए कौन? मेरी समझ में नहीं आ रहा था क्या करू? जो पता बताया था वही आस-पास घूमता उन्हें पुकार रहा था। बेहोश पड़ी स्त्री को हाथ लगाने का दम न था बहुत आवाज लगाई जवाब नदारत- मैडम-मैडम-जवाब कौन देता? आधी रात को एक अकेली महिला की सवारी लिये खड़ा था। साथ में पानी था तो हाथ में पानी ले उनके चेहरे पर मारे-वे थोडा कुनकुनाई जरूर एक आस बंधी कि मैडम होश में आकर उतरेगी, पर वे फिर नशे की नींद में थी। अजीब असमंजस की स्थिति थी क्या करू किससे पूछूँ। इस स्थिति मे मैने उन्हीं साहब को फोन किया जिनके साथ इस सवारी को एयर पोर्ट से लेकर आया था एक बार मन में यह विचार भी आया कि उन्हें हिला कर उठा कर टैक्सी से उतार चला जाऊ इस बात पर मेरा जमीर तैय्यार न हुआ साथ ही यह डर भी था कि सवारी के साथ कुछ गलत हुआ साथ ही यह डर

भी था कि सवारी के साथ कुछ गलत हुआ तो सबसे पहले मैं ही पकड़ा जाऊंगा?

उस दिन की बात याद करते हुये आज भी मन बेचैन हो जाता है। जैसे फोन करने को सोचा था- साहब को फोन लगाया, फोन पर किसी महिला की आवाज थी-मैंने बताया हम टैक्सी ड्रायवर बोल रहे हैं। अभी कुछ देर पहले साहब को उनके घर पर छोड़ा है- आप कौन बोल रही हैं।? उनसे काम है।

“साहब तो नहाने गये हैं। मैं उनकी वाइफ बोल रही हूँ क्या बात है मुझे बताओ?”

जवाब सुनते ही साहब मैंने तुरंत अपना फोन बिना कुछ उत्तर दिये बन्द कर दिया था।

अब तो अनेक प्रश्न मन में जाग उठे, उसकी पत्नी घर में है तो ये कौन है? कहीं किसी बड़ी मुश्किल में न फंस जाऊँ। मैंने ढेर सा पानी उनके चेहरे पर फेंका-वह अकबका कर उठी क्या हुआ? हाथ से चेहरा पोंछ चौक कर देखा मैंने कहा- मैडम नेरूल आ गया है। उत्तरियें, बहुत देर हो गई मुझे अपने घर जाना है।

वह अपने आप को समेटते इधर उधर देखती अपना बैग लेकर उतर गई थी। तुरंत मैंने गाड़ी बढ़ा दी थी पर थोड़ी दूर जाकर टैक्सी रोक देखता रहा था जब तक वह अपनी बिल्डिंग के अन्दर नहीं चली गई। मैंने चैन की लम्बी साँस ली थी और अपने डेरे पर पहुँचा था।

संपर्क : कृष्णा श्रीवास्तव - मो. 9881271009

‘नमस्ते ! आप हमारे यहाँ के सुभाष दा के रिश्तेदार हैं न? हम उन्हीं के यहाँ से आ रहे हैं।’ लगभग बिना दम लिए ही कह दिया उस अधेड़ उम्र की औरत ने....! मैंने भी हल्के से हांथ जोड़कर जवाब में सिर हिला दिया। दरअसल कल रात को ही उन रिश्तेदार महोदय के यहाँ से फोन आ गया था कि कुछ लोगों को पनाह देनी है, क्यों कि वे खुद इस कर्तव्य से कतई पल्ला नहीं झाड़ सकते ; साथ ही और भी जो बातें उन्होंने बताई, वह सब कुछ क्षमा मांगने का पर्याय ही था। फिर मेरी ओर से ‘जी, हाँ!’ जैसे कुछ शब्द सुनकर उन्होंने गले को खँखार कर थोड़ी-सी इत्मीनानी भाव से जुड़ते हुए कहा,

‘वे कोई आठ-दस युवक होंगे एवं साथ में उनकी एक अभिभाविका होंगी, जिन्हें आप शायद पहचान लें!’ फिर लाइन कट गई। रिश्तेदार के कथनानुसार वे नौ युवक, प्लस अभिभाविका महिला यानी पूरे दस के बॉस, बस!! मैं कुछ ही देर में ताड़ गया कि पूरे दल का कमान सम्हाल रही है यही महिला। मजबूत कद-काठी की उस औरत ने फिर से बातचीत के टूटे तार को जोड़ते हुए कहा, “आपको पता ही होगा कि दंगा करनेवाले युवकों को अगवा कर लेते हैं फिर मोटी रकम की वसूली के बाद ही छोड़ते हैं, नहीं तो.....!” उनकी अर्धसमाप्त बात पर मैं सिहर उठा लेकिन वह निर्विकार भाव से बोल रही थी। ‘वे औरतों-लड़कियों पर नज़र भी नहीं डालते, उठाना तो दूर की बात !’ मैं बीच-बीच में ‘हाँ-हूँ’ ही कर रहा था, अब मैंने एकाध सवाल करने के उपरांत अपनी ओर से चिंता व्यक्त की-

प्रशासन क्या करती है? इस पर उनकी ओर से दो टूक जवाब था - ‘प्रशासन दिखावे की अधिक और काम का कम काम करती है। अब तो केंद्र सरकार के हस्तक्षेप की उम्मीद लगाए हैं हम। अर्धसैनिक बल की टुकड़ी आने लगी है, बस! अब आपको अपनी ओर से यह बताना उचित समझती हूँ कि मैं कोई ‘लीडर-विडर’ नहीं हूँ ; मैं इन बच्चों के साथ नहीं आती तो इन्हे आप भी शायद पनाह नहीं देते। ये मेरे कोख के बच्चे नहीं हैं पर अपने इलाके में ये मुझे खूब मानते हैं, मैं इन्हें अकेले हरगीज नहीं छोड़ सकती थी, मेरे अपने बच्चे नहीं है तो क्या! ये ही मेरे अपने हैं।’

मैंने एक-एक कर सबसे परिचय पूछ कर फ्रेश होने की ताकीद की। युवकों ने केवल अपने नाम ही बताए, पदवी शायद ही किसी ने बताया हो! पत्नी तब तक चाय-पानी का प्रबंध कर चुकी थी। उन अधेड़ उम्र की महिला ने मेरी स्मृति को खंगालते हुए फिर बोली, ‘पार-साल आप सुभाष-दा के यहाँ बारात लेकर गए थे, सारी रात जाग कर हम सबने बारातियों की सुरक्षा में

पहरेदारी की थी।' मैंने सिर हिलाकर विस्मय प्रकट किया तो उन्होंने एहसान का बोझ कुछ और डालते हुए कहा- 'उस समय तो आपको समझने नहीं दिया गया कि माहौल क्या है? जब कभी-भी आपको बंधक बनाने की साजिश रची गई थी, एक बार बंधक बन जाने पर कई लाख रुपये देने पर ही वे आपको आज़ाद करते।' मेरे विस्मय भरे चेहरे को पढ़ते हुए उन्होंने और जोड़ा, 'अब आप जैसे सज्जन के पास आना ही मैंने ठीक समझा, अब इन युवकों के अकेले आने पर शायद आप पनाह न देते, इसलिए मैं इनके साथ आई हूँ।' एक ही बात को उसने दुहरा कर कहा।

युद्ध-स्तर पर उनके लिए घर के लगभग सभी सदस्य चाय-नास्ते के प्रबंध मैं हम जूट गए थे। मैं अब तक केवल सिर हिला-हिला कर ही संप्रेषण कर रहा था बजाय कुछ बोलने के। आतंकी समाचारों पर मैं विस्मित था कि इस देश का क्या होगा जहाँ पूर्वोत्तर में इतनी भाषागत गोष्ठियों का विद्रोह चल रहा हो! इन्हें राष्ट्र की मुख्य धारा में लाना एक बड़ा चैलेंज है। जब तक ये बातें चल रही थी तब तक यह समाचार आई कि केंद्र सरकार ने सब को आलोचना के टेबल पर बातचीत करने हेतु आह्वान करनेवाली है। अब पत्नी के साथ मिलकर मैंने मेज पर सबके लिए चाय-नास्ते का प्रबंध करने में इस प्रकार जुटा रहा कि भले ही ये बिन बोले मेहमान हों, इनकी देख-भाल करना राष्ट्र की सेवा है। पहले मैं कुछ धर्म-संकट के रास्ते में इस प्रकार ठिठक गया था कि अपने-आप को धक्के मार-मार कर आगे बढ़ा रहा था। वह औरत चाय पीती हुई फिर मुझे कुछ इत्मीनान करने के लिए कहने लगी, 'शायद आपको थोड़ी-सी घबराहट हो रही हो! हम आपके लिए कोई समस्या खड़ी नहीं

करना चाहते। अर्द्ध-सैनिक बल की तैनाती होनेवाली है, हम दो-तीन दिनों में ही चले जाएंगे। ऐसी वारदातों के तो हम आदि हो गए हैं।' मैं सोच रहा था कि 'आपदा इंसान को कितना काबिल बना देती है!'

मैं उस प्रसंग की कड़ी में कुछ और जोड़ना चाह ही रहा था कि पत्नी ने मुझे इशारों से रोक दिया। मुझे इतना अंदाज़ा हो गया था कि ये ज़्यादा दिन नहीं रुकेंगे, फिर भी दस लोग साधारण मध्यवर्गीय परिवार के लिए कम नहीं होते! अतः 'अतिथि देवो भवः' वाली बात को स्मरण कर सबसे आत्मीयता-पूर्ण बातें करना शुरू कर दिया। वह औरत मुझे कुछ बातें लिबरेशन फ्रंट की बता रही थी तो युवकों के इशारों पर कुछ बातें टालती जा रही थी। खाने की मेज पर जब वह आई तो मैं उसे देखकर यह अंदेशा कर रहा था कि वह चर्म-रोग से ग्रसित है या उससे निबट रही है। जो भी हो, मैं अंदर जाकर पत्नी से इस संदर्भ पर फिस-फिसाया तो हम इस निर्णय पर पहुँचे कि खाना पत्तल पर खिलाया जाए और अधिक बर्तन न माँजने का दोष महरी के मत्थे मढ़ दिया जाए। तयशुदा योजनानुसार कई मेजों को एक साथ जोड़ कर पेपर बिछा दिए गए। अब उन सबको एक ही साथ बैठने का आग्रह किया गया। सबके सामने पत्तल डालते हुए हमने अपनी ओर से सफाई दी कि 'महरी.....!' इसपर उन्होंने भी हमारा समर्थन करते हुए अपनी तरफ से कोई संकोच न करने को कहा। हमने भी तनाव-मुक्त होकर उन सीमित समय में ही लगभग युद्ध-स्तर पर ठीक-ठाक इंतजाम कर लिए थे। अब भोजन पड़ोसते समय उस औरत ने प्याज-लहसुन और मसुर दाल उन्हें न पड़ोसने की हिदायत दी तो हमारा संदेह विश्वास में बदल गया। मुझे पता था कि चर्म रोग में गरम भोज्य

पदार्थों से परहेज करना होता है।

‘एक खाली प्लेट दे दीजिए। चावल कुछ अधिक है।’ आदर और आदेश मिश्रित शब्दों में उन्होंने कहा। पत्नी ने प्लेट आगे रख कर चम्मच से चावल उठाने की कोशिश की।

‘शुगर का पेशेंट हूँ। चावल ज्यादा नहीं लेती।’ उन्होंने हाथ से ही अपने पत्तल से चावल उठाकर प्लेट में रखते हुए कहा, ‘इसे ले जाइए। चावल नष्ट नहीं करना चाहिए।’

पत्नी ने उनके संकोच के निवारण के लिए कहा - ‘जितना खाना हो खाएं, उठाकर रखने की जरूरत नहीं है।’

‘आप लोगों ने तो अब तक नहीं खाया है न! इसका उपयोग कर लेंगे आपलोग।’

‘हाँ-हाँ क्यों नहीं! ज़रूर उपयोग कर लेंगे। आप प्लेट एक किनारे पर रख दीजिए, हम उपयोग कर लेंगे।’

‘ले जाते तो अच्छा होता।’

‘न-न, कोई बात नहीं। आप ठहरे हमारे अतिथि, भला आप से परहेज कैसा!’

उधर दो युवक प्लेट की ओर देख कर कुछ फुश-फुशा रहे थे। मैं उन सब से इधर-उधर की बातें करते हुए इन सारी बातों से उनका ध्यान बाँटने की कोशिश कर रहा था। तदुपरान्त हमने अतिथि-सत्कार में कोई कोर-कसर अपनी ओर से नहीं की। युवकों द्वारा हर बात का प्रत्युत्तर ‘हाँ-ना’ या सिर हिला कर शायद मैं कुछ शक्की हो चला था।

पत्नी ने फिर से कहा,

“मौसी जी जितना चावल लेना हो, ले लें और प्लेट को किनारे रख दें। मैं बाद में उठा लूँगी।” ‘चावल नष्ट नहीं करना जी!’ वह कई बार इस बात को दोहराने लगी। जवाब में पत्नी

भी आश्वासन देती रही कि अवश्य उपयोग कर लिया जाएगा।

मैंने हॉल में दरी बिछा दिए। फिर कुर्सी के गद्दों से तकिया बनाकर ऊपर से बेडशीट बिछा दिए। इस प्रकार जैसे-तैसे बिस्तर बन कर तैयार हो गया। कुछ ही देर में वे सोने भी चले गए।

‘अच्छा! अब बताओं कि तुम उस चावल का क्या करोगी?’ मैंने पत्नी से आत्मीयतापूर्ण शंकालु भाव से पूछा।

‘आप हर बात पर क्यों दिमाग खफ़ाने चले आते हैं? मैं समझ लूँगी।’ मैंने उस विषय को विराम देने के लिए और कुछ न कहा।

दूसरी सुबह हमने सबको डाइनिंग रूम में चाय पीने के लिए बुलाया। तब वह चावल वाली प्लेट जस की तस टेबल के किनारे रखी हुई थी। पत्नी ने मुझे डांट कर कहा कि अभी कुछ और सफाई होना बाकी है। महरी अभी आई नहीं जो सफाई कर दे। उन्हें बिस्तर पर ही बैठा कर चाय पिलाई जाए। तब तक उस औरत ने चावल भरी प्लेट को टेबल के किनारे रखा हुआ देख लिया था। उनकी आँखें मानों यह कह रही हों कि हम छूआ-छूत की भावना से ग्रसित हैं। हॉल में सबने चाय पी लेकिन उस औरत ने न चाय पी और न कुछ बातें ही की। मैंने कई बार बातों का सिलसिला जोड़ने की कोशिश की पर वे केवल ‘हाँ-हूँ’ आदि कहती हुई हमें नजर अंदाज करती रही। लड़कों के चाय पीते ही उन्होंने मुझे सूचित किया कि अभी-अभी सूचना आई है कि उपद्रवी इलाके में अर्ध-सैनिक बल की तैनाती हो गई है। अब उन्हें जाने की इज़ाजत दी जाए। हमने अतिथि सेवा में कोताही नहीं बरती फिर भी शर्मशार हो रहे थे।

यह कहानी असम में कोई बीस वर्ष पहले पूर्वोत्तर राज्यों में हुए दंगों की पृष्ठभूमि पर लिखी हुई है।

संपर्क : आनंदलोक मॉडल स्कूल, पो: गुड़ियाहाटी, कूचबिहार 736170 (प.बंगाल), मो. 8918546935

वो कुत्ता बहुत ही प्यारा था। ऐसी राय सबकी थी। जर्मन शेफर्ड। आस्कर.....! इसी को तो जैसे ऑस्कर अवार्ड दिया गया था।

‘ऐ आस्कर.....किधर जा रहा है।’ मेरी आवाज़ से उसने मुझे पीछे मुड़ कर देखा था और थका हुआ सा हाँफते हुये मेरे नज़दीक आ गया था। दो-तीन बार मैंने उससे दूर गेंद फेंक कर उठा लाने के लिये प्रेरित किया था। वह बराबर गेंद को पकड़ने के लिये उस पर झपटता और दौड़ता। पा जाता तो गेंद को मुंह में दबाये, विजय दर्प सा चेहरा लिये मेरे पास आ खड़ा होता। श्वेत दंत पंक्तियां उसकी बे हिसाब खुशी को जाहिर कर रही होतीं। ऐसे समय में वह पूंछ हिलाना भी अनिवार्य समझता। मैं उसके सिर पर हाथ फेरता, पुचकारता। लेकिन उसकी भाव-भंगिमाओं में कोई परिवर्तन नहीं आता। वह बदस्तूर पूंछ हिला रहा होता और गेंद जमीन में गिरा कर लम्बी जीभ निकाले किसी धौंकनी की तरह आवाजे निकाल रहा होता। मानो कह रहा हो,

‘अब बहुत थक गया हूँ। आगे कोई खेल नहीं करूँगा।’ उसे आराम कर लेने के ख्याल से मैं पार्क के किनारे बनी क्यारियों में तरह-तरह के फूलों से लदे पौधों के पास चला जाता या खुद भी घास के बिछौने पर पालथी मार घास का कोई बड़ा सा तिनका तोड़ मुंह में डाल चबाने लगता। इस दौरान आस्कर भी घास के मैदान में लेट जाता।

हम दोनों को शान्त हुआ देख अपने घरों की बालकनियों में खड़े, तमाशा देख रहे बच्चे जोर-जोर से चिल्लाने लगते, ‘अंकल हमें आस्कर का खेल देखना है?’ उन्हें हवा में हाथ उठा कर शान्त करता और मन ही मन अपने आपको यह कहते हुये आस्कर के पास आ जाता,

‘हमें तो मदारी बना दिया लोगों ने।’

आज भी कुछ ऐसा ही हुआ। बच्चे जोरों से चिल्लाये। उम्र में कुछ बड़े बच्चों ने सीटियां भी मारी। उनको ऐसा करते देख मुझे बुरा लगा। हालांकि बच्चों की मनोवृत्तियों के पीछे कोई दुर्भावना नहीं छिपी थी। पर मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने फूलों के ऊपर हाथ फेरे जैसे आस्कर को स्नेह देता हूँ। उनके मुलायम स्पर्श से मैं पुलकित हो उठा। बच्चे भी थोड़ा सा शोर करके शान्त हो गये थे। मैंने आस्कर को देखा वह चारों टांगे चित्त पड़ा था। वह मुझे और दिनों की अपेक्षा आज कुछ ज्यादा ही थका लग रहा था। छः साल का होने को आया था। पर आज तक बसन्ती बयार की खुमारी से मरहूम था, ‘बेचारा आस्कर क्या यूँ ही दुनिया से ख़ुशसत कर जायेगा, शायद ऊपर वाले ने उसके नाम कोई जोड़ीदार नहीं बनाया। मैंने जितनी बार टिम्सी से बात की उसने बराबर

प्रतिरोध किया। उसका कहना था हम लोगों के बीच रह कर वह कुत्तों के तौर तरीके बिलकुल नहीं जानता। अपने आप को कटवा कर आ जायेगा। फिर हम डाक्टरों के चक्कर काटेंगे। मैं बेटी की दलील सुन कर खामोश हो जाता।

सोचते हुये मैं उसके पास चला आया। मेरे आने की आहट मात्र से वह फुर्ती दिखाता खड़ा हो गया। बच्चों में सरगोशियां हुईं। मैंने नीचे पड़े रिंग को उठा लिया। बच्चों ने तालियां बजा कर हम लोगों की वापसी का स्वागत किया।

मैंने रिंग को जमीन से तीन-साढ़े तीन फुट की ऊंचाई पर एक हाथ से हवा में स्थिर कर दिया और आस्कर को तीन-चार मर्तबा आवाज दी। वह भी मेरी आवाज को सम्मान देने के अंदाज में उछाल लगाते हुये रिंग के दूसरी ओर कूद गया। बच्चों ने शोर मचाते हुये उसे पुकारा। आस्कर उनको देखते खड़ा हो गया। मैंने हाथ हिला कर बच्चों को शान्त करने की कोशिश की। अब तक बड़े भी बारजे में आकर खड़े होगये थे और मुझे बच्चों को चुप कराते देख खुद भी उनको शान्त रहने के लिये कह रहे थे। वास्तव में आस्कर का रिंग के भीतर से निकलने का खेला पूरी कालोनी में चर्चा का विषय बन गया था।

मैं स्वयं उसके इस खेल से बड़ा इतराता था।

दरअसल रिंग के भीतर से होकर कूदने का प्रशिक्षण किसी पेशेवर प्रशिक्षक ने नहीं दिया था। एक मदारी का सिखाया हुआ खेल था। जब आस्कर बच्चा ही था। तब वह मदारी प्रायः बन्दर का खेल दिखाने मोहल्ले में आया करता था। वह रिंग से बन्दर को कुदाया-फंदाया करता था। उसका यह कारनामा जहाँ बच्चों के लिये आकर्षण का केन्द्र था वहीं मुझे भी बहुत पसन्द था। एक

रोज मैंने मदारी से अपने कुत्ते को यह खेल सिखाने के लिये कहा। उसने साफ मना कर दिया। हालाँकि उसके मना करने का कोई ठोस कारण नहीं था। मैंने उसे अच्छे पैसे देने का लालच दिया तो वह मान गया था। अब यह बात और है कि किसी अभ्यस्त प्रशिक्षक से आस्कर को सिखाता तो शायद मेरी अच्छी खासी रकम निकल जाती। बहरहाल कड़ी मेहनत से कई दिनों बाद बल्कि चार-पांच महीनों बाद आस्कर सफलता पूर्वक रिंग के आर-पार छलांगे लगाने लगा था। मैं उसको और भी बहुत कुछ सिखलाना चाहता था। जैसे पॉट पर चढ़ कर अपने आपको हल्का करना। जब देखो अपनी मन-मर्जी से जगह गन्दी कर देता है। उसकी इस आदत से हम सब बहुत परेशान रहते हैं। यह सब किया कराया टिम्सी का है। अगर मेरे हाथों में उसकी पालना होती तो उसके इस दुस्साहस पर मैं जरूर लगाम कस देता। सोफे और पलंग पर चढ़ना तो उसके लिये आम बात है।

मैं यह भी चाहता था कि वह कुछ खास किस्म का सामान मुँह से उठा कर अपने गंतव्य तक पहुंचाना भी सीख जाये। पर यह सब मदारी के वश में नहीं था। अब यह बात और है कि आस्कर अन्य ब्रांड के कुत्तों के मुकाबले बहुत तेज बुद्धि का था। उसने हम लोगों के कई शब्द पकड़ लिये थे। जैसे उठ जा, बैठ जा, बाहर निकल जा, अन्दर आ जा। भौंकने पर डाटते तो चुप कर जाता था। दरवाजों की कुण्डियां खोलना वह अपने आप सीख गया था।

एक बार हम सब कहीं बाहर गये थे। दरवाजे को बाहर से ताला लगा दिया था। आस्कर सीढ़ियों की रेलिंग से बंधा हुआ था। हम सब तो देर से लौटे थे। टिम्सी पहले घर आ गई थी। उसने ताले में चाभी लगायी तो वह टस से मस

न हुई। वह घबरा गई। उसने फिर कोशिश की पर सफलता नहीं मिली। अन्दर से आस्कर भौंक रहा था और उछल रहा था। बाहर टिम्सी परेशान थी। लेकिन वह बराबर कोशिश करती रही। अन्ततः वह ताला खोलने में सफल हो गई। दरवाजे को उसने धक्का दिया तो वह खुला नहीं। उसे समझते देर नहीं लगी कि आस्कर का पंजा अन्दर की कुण्डी पर लग गया है। जिससे कुण्डी बन्द हो गई है। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगी, 'आस्कर कुण्डी खोलो।' आस्कर भी परेशान और बेचैन होकर कूकने लगा। टिम्सी ने सोच लिया अब दरवाजा तुड़वाना ही पड़ेगा। लेकिन आस्कर ने हार नहीं मानी। वह बदस्तूर उछलते हुये कुण्डी पर पंजे मारता रहा जिससे कुण्डी खुल गई। सर्दियों के दिन थे। पर टिम्सी के चेहरे पर पसीना आ गया था।

आस्कर का टिम्सी से गज़ब का लगाव था। उसने भी आस्कर की परवरिश पुत्रवत् की थी। लेकिन अब खुद एक पुत्र की माँ बन गई है। लिहाज़ा अपने बेटे को लेकर वह आस्कर के प्रति सतर्क और सजग रहने लगी है। जिस कमरे में दिवा को रखा गया है। वहाँ पर आस्कर का प्रवेश निषेध कर दिया गया है। बाल भी तो बहुत झड़ते हैं उसके शरीर से। सोफों में, बिस्तरों में जहाँ देखो उसके बदन से गिर कर चिपके पड़े दिखते रहते हैं। उसे देख पत्नी भी हरदम झींकती रहती है। क्या करे घर में छोटा बच्चा है उसके अन्दर बाल चले गये और उसे किसी तरह का संक्रमण हो गया तो लेने के देने पड़ जायेंगे।

टिम्सी की सास भी बड़ी तेज है। जरा सी बात को लेकर घण्टों बकझक करती रहेगी। अपने आगे किसी की सुनती भी नहीं। घर का कोई सदस्य चाहे उसका अपना लड़का भी क्यों न हो। किसी को नहीं बख्शाती। पत्नी भी उसके

बोलने से बहुत घबराती है। अकेले, वह टिम्सी के ससुराल नहीं जाती। कोई न कोई उसके साथ जरूर होता है। सिवाय मुझे छोड़ कर।

मेरा न जा पाना भी एक मजबूरी है। कार या बस का सफर मुझे रास नहीं आता। यही वजह है कि मैं टिम्सी के घर एक बार भी नहीं जा सका हूँ। अपनी पल्टियों से लाचार और बेजार हूँ।

घर के वारिस पर तो समझिन की जान बसती है। आवृत्ति ने न जाने कितनी मिन्नतें की थीं तब कहीं जाकर बच्चे और टिम्सी को मायके भेजा था। साथ में क्या करना है, क्या नहीं करना है की लम्बी फेहरिस्त थमा दी थी टिम्सी को जिसमें यह भी शामिल था कि दिवा को किसी डॉक्टर के पास नहीं जाना है, जब तक जरूरी न हो और वो भी पहले उससे बात कर ले। जैसे हम लोगों ने कभी बच्चे न पाले हों। आवृत्ति का मन अन्दर से क्लेशा गया था। कहाँ दे दी अपनी बेटी। अक्सर मुझे सुनाया करती। क्योंकि मैं ही इस घर को और रिश्तों की अपेक्षा तवज्जो दे रहा था। वैसे बेटी को लड़का भी पसन्द था। वरना उसने ही एतराज कर देना था।

मैंने भी तुनक कर एक बार पत्नी को सुना दिया था, 'टिम्सी की सास के आगे तो दुम दबाये कुत्ते की तरह ज़बान तालू से चिपक जाती है। अरे...जहाँ संजोग था हो गया। अब लकीर पीटने से साँप कहीं मर जायेगा।' शायद मैंने भी आवृत्ति की कमजोर नस पर हाथ रख दिया था। वह चुप ही नहीं हुई थी, बल्कि मेरे पास से भी खिसक गई थी।

हालांकि इस समय पत्नी आस्कर के झड़ रहे बालों को लेकर बड़ी चिन्तित थी। टिम्सी की सास का डर तो अपनी जगह था। अगर सचमुच में दिवा को कुछ हो गया तब.....! अभी कल दोपहर के खाने के समय सब्जी में आस्कर का

बाल निकला था। उसके बाद मैं खाना नहीं खा पाया था।

वैसे तो सारा समय बंधा रहता है। सुबह, दोपहर और रात को खाना देने के बाद उसे बाहर खोला जाता है। इस दौरान वह अन्दर आकर खैर-खबर लेता रहता है। बिखरे पड़े सामानों को अपनी लम्बी थूथन से सूँघने की आदत के चलते वह दिवा के पास भी चला जाता है। बल्कि उसे सूँघने के लिये जैसे ही अपनी थूथनी आगे बढ़ता है। तो बच्चे के नज़दीक बैठी टिम्सी या पत्नी आस्कर को दुत्कार कर भगा देती है। फिर भी पंखे की चलती हवा में उसके बदन से कोई न कोई बाल उड़ कर दिवा तक पहुँच सकता है। जिसका भय तो सभी के अंदर बना रहता है।

मैंने मुख्य कक्ष की खिड़की की सलाख के साथ आस्कर को बांध दिया। घर का माहौल हमेशा की तरह सामान्य ही था। दूसरे कमरे में लेटा दिवा रिरिया रहा था। टिम्सी उसे दूध पिलाने की तैयारियों में व्यस्त थी। पत्नी रसोई में नाश्ता तैयार कर रही थी। मुझे अपने काम के सिलसिले में घर से जल्दी निकलना था। मैं वहाँ से हट गया।

नहाना-धोना तो मैं सुबह-सवेरे कर लेता हूँ। आवृत्ति भी जल्दी उठ जाती है। पूजा जो करनी होती है, उसे।

मैं तैयार होने, अपने कमरे में आ गया। लिहाजा पत्नी आस्कर को खाना देने लगी। उससे फारिग हुई तो मैं खाने की मेज पर आ कर बैठ गया।

‘गर्मागर्म आलू की सब्जी और पूरियां... भई वाह। आज कोई खास बात....!’ मैंने भी शोखी से कहा, ‘बर्थ डे तो तुम्हारा पिछले महीने निकल चुका है। क्या शॉपिंग का प्रोग्राम है...शाम को!’ आस्कर को खोल कर मेरे पास से निकलते

हुये वह केवल मुस्कुराई फिर कहा, ‘तुम्हारी लाडो की फर्माईश थी। हम्म तो बरस हुकुम के गुलाम हैं।’

‘हुकुम के गुलाम या क्वीन।’ आवृत्ति के सुर से सुर मिलाते मैंने कहा।

‘रानी नहीं नौकरानी वो भी मुफ्त की।’ पत्नी भी चुहल करती बोली। मतलब यह कि थोड़े से समय के लिये ही सही पर घर का माहौल खुशनुमा हो गया। मैं नाश्ता करने में मशगूल हो गया। आस्कर दो-एक बार अन्दर आया पर टिम्सी ने अखबार का बना रोलर दिखा कर भगा दिया।

नाश्ता करके मैं साथ ले जाने वाले कागज-पत्र समेटने कमरे के अन्दर चला गया। इस बीच टिम्सी भी माँ के पास रसोई में जाकर कुछ बातें करने लगी। मैंने घड़ी में देखा। नियत समय से वक्त कुछ ऊपर ही निकल गया था। एक पेपर नहीं मिल रहा था। मैंने अलमारी खोल के देखा उसमें भी नहीं था। मेरे ऊपर घड़ी? की सूईयों की टिक-टिक की आवाज और कागज न मिल पाने की वज़ह से खीझ सी हावी होने लगी थी कि तभी आवृत्ति की चीख कम हाये राम की कर्कश ध्वनि कानों के रास्ते सीधे सीने में जा कर धंस गई। सब कुछ छोड़-छाड़ कर मैं बाहर के बड़े कमरे की तरफ भागा। सामने नजर पड़ी अपाद मस्तक काँप गया मैं।

आस्कर बिस्तर पर चढ़ा दिवा को सूँघ रहा था और चाट रहा था। लेकिन पत्नी के चिल्लाने से दुम दबाये नीचे उतर कर बाहर चला गया। एक तो गर्मी, उस पर कागज का न मिलना तिस पर आस्कर का बच्चे को चाटना। मेरा क्रोध साबुन से उठी झाग मानिन्द फनफना उठा लेकिन आवृत्ति और टिम्सी की बिफरी भाव-भंगिमा देख मैं गुस्सा प्रदर्शित न करते हुये तमाशबीन बना खड़ा रह गया। टिम्सी कह रही

थी,' निकाल बाहर करो इसे...नहीं रखना हमें कुत्ता-वुत्ता।' और दरवाजा बन्द कर दिया।

आवृत्ति ने भी एक सांस में कह दिया, 'अब अन्दर न घुसने देना। गली के तमाम कुत्तों की तरह आवारागर्दी करता उन्हीं के साथ सो जाया करेगा। 'भाड़ में जाये। मरने दो।' यह टिम्सी के शब्द थे।

वही टिम्सी जो सर्दियों में उसे अपनी रजाई में पनाह देने में कोई गुरेज नहीं करती थी। सुबह बाहर निकालते समय आस्कर के सिर पर मफलर बांधा करती थी। जैकेट के ऊपर स्वेटर भी पहनाती थी। जरा सा बीमार पड़ जाये अपने को खजाये की तरह विह्वल हो जाया करती और अकेली स्कूटी उठाये दौड़ जाती डाक्टर के पास। आज उसके दिल में आस्कर के लिये एक झटके में सारी मोह ममता खत्म हो गई थी।

बड़ा नाजुक मिजाज़ कुत्ता था या टिम्सी ने उसकी परवरिश ऐसी की थी कि सर्दी-गर्मी उसके लिये अज्ञेय हो जाती तभी तो मार्च के महीने ही उसके लिये कूलर लग जाता था। अब आस्कर का बाहर रहना टिम्सी से सहन हो जायेगा।

मैं ज्यादा देर तक आस्कर के लिये भावुक नहीं रह सका। दिवा को चाटने की उसकी हिमाकत माफ करने योग्य नहीं थी।

आस्कर को मालुम भी नहीं कि उसे दोबारा अन्दर आने के लिये नहीं निकाला गया। उसे तो यह भी पता नहीं चल पायेगा कि किस जुर्म में उसे सजा दी गई है। लेकिन जायेगा कहाँ उसका ठौर तो यही घर है। बाहर के कुत्ते उसे छोड़ेंगे नहीं। वह तो कुत्तों से लड़ भी नहीं पायेगा।

मुझे काम पर निकलना था और कागज न मिल सकने का तनाव अलग था। उसके बगैर

ही मैं बाहर आगया। नजरें आस्कर को खोजने के लिये चारों ओर दौड़ाई। गली में नहीं था। मन में ख्याल आया कहीं सड़क की ओर न निकल गया हो। चिन्ता हुई कभी सड़कों में घूमने का अभ्यास तो उसे, है नहीं। किसी गाड़ी? के नीचे आगया...। अच्छा है, पिण्ड तो छूटेगा उससे। मैंने बाईक का इग्नीशियन बटन दबाया और आस्कर के ख्याल को सयत्न बाहर निकालता आगे बढ़ गया। लेकिन यह इतना आसान नहीं था। मोहल्ले तक पहुंचा तो आंखों ने चुगली कर दी। आस्कर दो कुत्तों के बीच खड़ा था। इत्मीनान हो आया। लेकिन तभी ख्याल आ गया। बाहरी कुत्तों ने नोच-खसोट दिया तब....! क्या होगा। सिर झटका और बाईक को एकसीलेटर देकर गति बढ़ा दी। आस्कर कहीं पीछे छूट गया।

जब लौटा तो धूप और तेज हो गई थी। उस समय तक आस्कर जेहन के किवाड़ बन्द किये कहीं छिपा बैठा था। जैसे ही दरवाजा खोल कर अन्दर आया। टिम्सी आस्कर को गुसलखाने में नहलाती मिली। जैसे शीशा टूट कर धड़ाम से नीचे गिरता है वैसे ही अन्तर से कांच के टुकड़े के उछलने की तरह ध्यान आया, 'आस्कर को टिम्सी ने बाहर निकाल दिया था।

'आखिर ले आये तुम लोग वापिस।'

'पहले तो दरवाजा खटखटाता रहा।' टिम्सी ने कहा, 'हार कर कहीं बैठ गया होगा। सोचा, देखा जाये कहाँ है। कूलर और पंखे में रहने वाला कुत्ता, गर्मी न बर्दाश्त कर पाया तो गंदी नाली में जा कर बैठ गया था। बचपन से पाला है। मोह थोड़े ही छूटता है।' बदन में शैम्पू की शीशी उड़ेलते हुये उसने कहा। मैंने गौर किया टिम्सी की आंखों में आँसू की बूंदें झिलमिला रही थी।

1. सृजन का संकट

एथेंस नगर में सौंदर्यशास्त्र की एक अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में विद्वान कालेगोरों ने कहा था, संसार में अभी भी ढेर सारी कविताएं हैं, जिन्हें अभी तक पढ़ा नहीं गया।

बावजूद इसके, कविता का उत्पादन जारी है। बगैर इस बात की चिंता किये कि कविता पढ़ी जा रही है अथवा नहीं।

दरअसल, समय का दबाव कला को दो तरह से प्रभावित करता है। एक निगेटिव रूप से तो दूसरे पॉजीटिव रूप से। यह प्रभाव उत्पादन के विघटित संघटित रूप को भी प्रदर्शित करता है, क्योंकि जब उत्पादन की शक्तियाँ संघटित होती हैं और संघर्ष की राह पर होती हैं तो सृजन की सकारात्मकता बढ़ती है, बावजूद दमन, अत्याचार, फांसी और जेल के। किंतु ज्यों ही ये शक्तियाँ पूंजी और तकनीक के आगे घुटने टेकने लगती हैं तो सृजन की ऊर्जा भी खत्म होने लगती है।

विगत कुछ दिनों से राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नई तकनीक और पूंजी ने मिलकर जो करिश्मा कर दिखाया है, उसके आगे तमाम बुद्धिजीवी हैं! कारण, उत्पादन की शक्तियों का कहीं न कहीं बिखराव भी है। आप मानें या न मानें, इससे प्रेरणा के स्रोत लगातार सूखते चले गये हैं।

नयी तकनीक और पूंजी ने मिलकर सुख-सम्पदा, भौतिक समृद्धि के आसान, त्वरित और तात्कालिक आनंदानुभूति को जन्म दिया है और उसके पीछे समय की राजनीति और उससे पोषित सरकारें इस दिशा में 'कैटेलिस्ट' का काम कर रही हैं।

कहने का यथार्थ के रंग यह है कि जन लगातार पीछे छूट रहा है और सृजन संकट के दौर से गुजर रहा है। उसे बचाने के लिये कुछ न कुछ तो करना ही होगा।

2. पुस्तकें बदला भी ले सकती हैं

शीघ्र ही कक्ष जलती हुई पुस्तकों के तीव्र धुएं से भर उठा। धू-धू कर जलती हुई पुस्तकों को देखकर सैनिक प्रसन्न हो उठे!

उसने अट्टहास किया, नालंदा महाविहार! हा-हा-हा!

लेकिन इस खेल से ऊबकर दूसरे सैनिक को अचानक उस बूढ़े भिक्षु की याद हो आयी।

शायद, उस बूढ़े भिक्षुक की हत्या अकारण ही हो गयी है। उसने गलत तो कुछ भी नहीं कहा था।

यह किस तरह की पुस्तकें हैं?

कौन जाने?

सुनते हैं, पुस्तकें क्रुद्ध होकर बदला भी ले सकती हैं। लोग बताते हैं, पुस्तकों में भी सत्य का वास होता है।

सहसा एक मोटी-सी पुस्तक आग की लपटों से उछलकर दूर जा गिरी।

दोनों सैनिक डरकर पीछे हट गए।

एक ने कहा, "पुस्तक क्रुद्ध हो गई है।"

"नहीं, पुस्तकें नहीं जलानी चाहिए।"

दूसरे सैनिक ने कहा, "सचमुच, पुस्तकें बदला भी ले सकती हैं।"

दोनों सैनिक डरकर वहां से हट गए। पुस्तकें अनवरत जलती रहीं।

•

3. ज्ञान का निजीकरण

अपने देश में 'ज्ञान का किला' लगातार ढहता रहा है। कोई सरगोशी नहीं, कोई खलल नहीं।

मैं तक्षशीला, नालंदा या विक्रमशिला विश्वविद्यालय की बात नहीं कर रहा। वह तो अतीत की बात हो गयी। अतीत की बातों में उलझने से क्या फायदा? मैं आज की बात कर रहा हूँ। अपने समय की। आधुनिक काल की।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी को बढ़ावा देने के लिए ही आई.आई.टी. जैसे शिक्षा संस्थान खोले गये थे। देश के विकास के लिए, देश की नौजवान प्रतिभाएं योग्य और समर्थ बन सकें। लेकिन इतने कम समय में ऐसा क्या हुआ कि इन संस्थानों के लिए अब योग्य शिक्षक तक नहीं मिल पा रहे हैं?

फ्रांस के समाजशास्त्री स्टीफेन गॉडफ्री का कहना मानें तो वैश्वीकरण की ताजा प्रवृत्तियों के चलते इस दुनिया में ज्ञान के निजीकरण का संकट सबसे ज्यादा बढ़ा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आपसी विलय से यह खतरा और बढ़ गया है। वे दिन लद गये जब किसी सुनसान प्रयोगशाला में खब्तियों की तरह जुटा इकलौता वैज्ञानिक अपनी अकेली बल बुद्धि के बलबूते दुनिया में तहलका मचा देने वाले किसी महान आविष्कार की तह तक पहुंच जाता था। आज का वैज्ञानिक शोध-कार्य कारखानों के उत्पादन की तरह ही एक सामूहिक प्रक्रिया बन गया है, जिसमें महंगे उपकरणों के अलावा सैकड़ों वैज्ञानिकों की सम्मिलित सूझबूझ की जरूरत पड़ती है। यही कारण है कि शोध-कार्य का स्वामित्व अब वैज्ञानिक के हाथों से निकलकर इस शोध को प्रायोजित करने और इसके फलों का उपयोग करने वाले मालिकों के कब्जे में आ गया है। सार्वजनिक क्षेत्रों की प्रयोगशालाएं भी अब बड़ी कंपनियों द्वारा प्रायोजित शोध-कार्य पर ही अपना अधिकांश समय बिता रही हैं और यही उसके अस्तित्व का सहारा भी बन गया है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि निजी क्षेत्र के संस्थानों द्वारा प्रायोजित शोध-कार्य हमेशा गोपनीयता की तहों में लिपटा रहता है और जनहित के लिए इसके सार्वजनिक बनाये जाने की गुंजाइश नहीं के बराबर होती है।

हाय रे समय! कहां गये हमारे बुद्धिजीवि और समाज के चिंतक! आज सही जगह उंगली रखने वाला भी कोई नहीं!

•

4. सौंदर्य तत्व के बारे में

एक बार नागार्जुन से मैंने पूछा था कि पिछले पचास वर्षों में जो साहित्य लिखे गए हैं

और जो जनवादी सौंदर्य की रचना हुई है, उसका मूल्यांकन नहीं के बराबर हुआ है। इस पर आपका क्या कहना है?

उन्होंने छूटते ही कहा, इस सौंदर्य शब्द के हम विरोधी हैं। ये अलग भाषाओं में भी चलता है। बंगला में इसे नंदन तत्त्व कहते हैं। प्रसन्न होने का तत्त्व है ये। दूसरी बात है कि सौंदर्य तत्त्व को हम भी मानते हैं, सारे लोग मानते हैं। हम इसे 'भलमनसाहत' कहते हैं। यह भलमनसाहत या भद्रता जो है, वह भी समय-सापेक्ष है। आज जो भद्र लगता है, दस वर्ष बाद अभद्र लगे, आउट ऑफ डेट लगे। इसलिए सौंदर्य-तत्त्व कहने से काम नहीं चलता है। दूसरा, देश-काल और पात्र का भी असर पड़ता है। जैसे, यहां दो वर्ष हो गए बिहार आये हुए। परिवर्तन कई हुए। एक तो यह कि पुराने हमारे कई मित्रों, हमारी उम्र के, उनमें से आठ में से पांच का देहांत हो गया। तो मामला साफ है। जो जीवित हैं, कहीं से कहीं चले गए हैं, भावधारा का कोई ओर-छोर हमसे मिलता ही नहीं। कोई भाजपाई हो गया है। कोई घनघोर रूप से इसलिए प्रसन्न है कि उनके दो लड़के ठीकेदार हैं। अब तो मुझे भी यह संदेह होने लगा है कि अगर भगतसिंह जीवित होते तो उनके परिवार में भी, बाल-बच्चों में ठीकेदार हो जाते। अरे, पंजाब के परिवार में जो देखते हैं, वहीं न होगा। परिवार में एक व्यक्ति था एक समय में सही उद्देश्य के लिए शहीद हो जाना एक बात है और जीवित रहकर मुकाबला करना दूसरी बात।

आपके कहने का मतलब है कि निरंतरता में ही इसे समझा जा सकता है।

हां, इस निरंतरता में खुद ही लगता है कि दस साल बेकार था। लेकिन शर्म के मारे बोलते नहीं।

अब तो कुछ लोग बोलने भी लगे हैं।

देखिये, बटुकेश्वर दत्त पटना में रहते थे। उनकी पत्नी शायद अभी भी होंगी। जब वे जेल से छूटकर आये, उसके बाद राजनीति के बारे में बोलना बंद कर दिया। सामान्य काम-काज में लग गए। कभी-कभी लगता है कि इतना नाटक किया, हमारे पक्ष में नहीं गया। पहले लोग सोचते थे एक आना मिल जायेगा तो काम हो जायेगा। लेकिन अब पंद्रह आना भी कम लगता है।

कहने का यथार्थ के रंग यह है कि देश-काल, भलमनसाहत और व्यक्ति की भूमिका तीनों ही अगर समय-सापेक्ष नहीं है तो आप किस सौंदर्य तत्त्व की बात करते हैं ?

तब मैं ख्वाब नहीं देखता था। पतंग उड़ाना और गुल्ली-डंडा खेलना अच्छा लगता था। कबड्डी के खेल में चाहे गंजी फट जाये या शर्ट का ऊपरी जेब, कोई गम नहीं। मां की दो-चार डांट सुन लेता और बस।

सपनों के पीछे भागने की तो बात ही नहीं थी। जो मिला खा लिया, जो मिला पहन लिया। बर्गर और पिज्जा क्या होता है, यह तो नाम भी नहीं सुना था। सच बात तो यह थी कि हमलोग मां-बाप के सामने फरमाइश करना जानते भी नहीं थे। ऊपर से कोई बोझा ढोने का काम मिल गया तो उसे झटपट करके घर वापस और पुनः खेल, खेल, और खेल!

हां, स्कूल जाना जरूर अच्छा लगता। वहां भी तो ढेर सारे दोस्त थे। वैसे पढ़ता कब और कैसे था, मुझे याद नहीं। इतना जरूर याद है कि हर साल अगली कक्षा में बैठता जरूर था। कभी फेल होने की बात नहीं थी। हर बार नई किताबें और कॉपियां मिलती तो खुशी होती।

सच, धमा-चौकड़ी के दिन थे वे। आपस में लड़ाई-झगड़ा और मारपीट भी होती, लेकिन

दूसरे दिन फिर सुबह एक साथ। मां-बाप के पास शिकायतों का भी आदान-प्रदान होता था। दो-चार घैल मिलतीं और फिर वही धमा-चौकड़ी। कितने सुहावने दिन थे वे। शायद इसीलिये कुछ लोगों ने इसे मस्ती की पाठशाला भी कहा है। लेकिन जैसे ही मिडिल स्कूल से निकलकर हाईस्कूल पहुंचा, पूरी दुनिया ही बदल गयी। उंगली में पेंसिल फंसाकर मारने वाले मास्टर और होठों को अपनी हथेली से रगड़ देने वाले गणित शिक्षक तो मुझे आज भी याद है।

दाहूचक वाले लड़के की याद तो मुझे ज्यों की त्यों है। उसका बाप उसी स्कूल के बाहर पाचक बेचता था। वह दिल से चाहता था कि उसका बेटा किसी तरह पढ़-लिख जाये। लेकिन उस लड़के ने भी कसम खा रखी थी। पढ़ना उसे जरा भी अच्छा नहीं लगता। जिस दिन उसका बाप उसे घसीटते हुए स्कूल लाता 'हेड सर' का रूल उसका भरपूर स्वागत करता। वह चिल्लाता रहता, मगर छुड़ाने वाला कोई सामने नहीं आता।

सच, कितना हृदय-विदारक होता था वह दृश्य! स्कूल के सारे लड़के सांस रोक कर इस दृश्य को देखते। कोई चूं तक नहीं करता। मैं तो बदमाशी की बात कभी सोच भी नहीं सकता था।

खैर, यह सिलसिला बहुत लंबा नहीं खिंच पाया। आठवीं क्लास में पहुंचते ही हमदोनों की पढ़ाई छूट गयी। पढ़ाई छूट गयी, कहना आसान है। लेकिन कैसे छूटी? उसकी तहों में जाना उतना ही त्रास-दायक!

दरअसल, हमलोग गरीब घरों के बच्चे थे, फटेहाली और मुफलिसी में जीने वाले बच्चे, मां-बाप की ऐसी स्थिति नहीं थी कि वे हर माह हमारी फीस भर सकें। फलतः हमें क्लास से निकाल दिया जाता, स्कूल से नाम काट दिया

जाता और हम अपमानित होकर घर लौटते।

घर में कोहराम मचने के बजाय एक सर्द खामोशी छा जाती। तीन महीने की फीस, फाईन और री-एडमिशन चार्ज यानी एक भारी-भरकम रकम की जुगाड़। पिता तो जैसे हिम्मत ही हार बैठते। ऐसी स्थिति में बार-बार दोस्तों से नजरें चुराना और शर्मीदगी महसूस करना, जरा भी अच्छा नहीं लगता। और जब पिता से पैसों का जुगाड़ नहीं होता तो हम खुश होते। चलो, अच्छा हुआ। स्कूल से मुक्ति तो मिली!

स्कूल से मुक्ति मिल गयी। बहुत अच्छा हुआ। लेकिन जीवन की दुश्वारियों से मुक्ति कहाँ थी? घर बैठने पर खेल और खेल! पिटाई और पिटाई! गालियां और गालियां! दरअसल, पिता की आर्थिक मजबूरियों ने उन्हें पूरा मनुष्य भी कहाँ रहने दिया था?

जीवन के कच्चे-पक्के अनुभवों से हमदोनों ही दूर थे। आठवीं क्लास का चक्रव्यूह भेदने में हमलोग पूरी तरह अक्षम थे। फिर जीवन में शिक्षा का क्या महत्व है, हमलोग इससे भी अनजान थे।

लेकिन मां तो मां होती है। बच्चे का भविष्य चुपचाप नष्ट होते देखना उसे बर्दाश्त न था। फिर घर की बदहालियां भी चिल्ला-चिल्लाकर कहतीं, इसे किसी काम में लगाओ, किसी रोजगार से जोड़ो, नहीं तो एक दिन केवल चोर-उचक्का बनकर रह जायेगा।

लोग नियति की बात करते हैं। व्यवस्था-जनित दोषों की बात नहीं करते। चोर-उचक्कों की बात करते हैं, मगर परिस्थिति-जन्य विवशताओं की बात नहीं करते। अज्ञान का भैंसा किस कदर बचपन को रौंद रहा है, उसकी हिफाजत की बात नहीं करते।

लिहाजा मां ने एक दिन जमाल मियां से

बात की। वह एक मोटर गैराज में मिस्त्री था। उसके दो बेटे थे और दोनों ही किसी अच्छे स्कूल में पढ़ रहे थे। मां ने कहा, छोटू की पढ़ाई छूट गयी है। आजकल वह बेकार बैठा रहता है। सोचती हूं, उसे आपके गैराज में भेज दूं। कुछ काम-वाम सीख लेगा।

क्यों नहीं? वहां तो पहले से कई लड़के काम करते हैं। उसमें से कई लड़के तो कई तरह के हुनर भी सीख गये हैं।

इसीलिए तो मैं कह रही हूं। आप तो जानते ही हैं, खाली दिमाग शैतान का डेरा होता है।

जमाल मियां हंसते हैं और मुझे अपना शागिर्द बनाने के लिये खुशी-खुशी राजी हो जाते हैं।

इस तरह मेरा भाग्य सदा-सदा के लिये मोटर-गैराज के साथ नत्थी हो गया। मैं मोटर-मैकेनिक तो नहीं बन सका, लेकिन पुरानी गाड़ियों को ठेलते-लुढ़काते ड्राइवर जरूर बन गया। आज मैं एक कुशल ड्राइवर हूं, लेकिन अफसोस शिक्षा ने यहां मेरी किस्मत को लात मार दी! मैट्रिक का सर्टिफिकेट न होने की वजह से मैं किसी सरकारी महकमे में ड्राइवर भी नहीं बन सका।

यह कसक रह-रहकर मन को आज भी टीसती है!

सुना है, शिक्षा में एक नई खिड़की खुली है। मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा वाली खिड़की। क्या इस खिड़की के जरिये थोड़ी-सी ताजा हवा हमारे घरों को भी नहीं मिलेगी?

•

5. शब्द-साधना

पतंजलि ने शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है। शब्द श्रोतेन्द्रिय से उपलब्धि, बुद्धि से ग्राह्य तथा प्रयोग से स्फुरित होने वाली आकाशव्यापी ध्वनि है।

कबीर शब्द-साधना की बात करते हैं। शब्द को वे अपना गुरु भी मानते हैं यानी कि यह शब्द ही है जो ज्ञान के मार्ग को प्रशस्त करता है।

साधो! सबद-साधना कीजै। जिस शब्द से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, उसी को ग्रहण करो। सबद ही गुरु है जिसे सुनकर हम शिष्य बने हैं और इस शब्द को समझने वाले बहुत कम लोग हैं। जो अंतर-गति को जानता है, वही शिष्य और महात्मा गुरु है। वेदों और पुराणों में शब्दों का उल्लेख है और शब्द ही इस सृष्टि का आधार है ऋषि-मुनि शब्द ही बोल रहे हैं, लेकिन शब्द का भेद नहीं मिलता। शब्द ही सुन-सुनकर आदमी फकीर का भेष धारण करता है और इसी शब्द के सहारे वह अनुरागी बनता है। षट्-दर्शन में भी शब्द को ही दोहराते हैं। शब्द से ही सृष्टि की रचना हुई है और यह सृष्टि शब्द का ही फैलाव है। कबीर कहते हैं कि जहां शब्द है, वहां जीवन और सृष्टि का रहस्य निहित है।

कहने का यथार्थ के रंग यह है कि शब्दों से खेलना बहुत हुआ। अब भी तो चेतो! शब्दों की जुगाली करना बंद करो और शब्द की साधना में लीन हो जाओ। देखोगे, कैसे रंग-बिरंगे फूल खिलते हैं और धरती सुवास से भर उठती है !

•••

संपर्क : 76674 29991, 96326 39707

पता नहीं क्यों अब तक साहित्यकार-व्यंग्यकार लुप्त नहीं हुए। अब तक तो हो जाना चाहिए था, क्योंकि जब बात, गाली, डांट, डर तक का असर नहीं हो रहा हो तब पत्र-पत्रिकाओं और चैनलों पर प्रस्तुत की गई स्थितियां और व्यंग्यवाण की तीक्ष्णता क्या घुड़ियां छील लेगी? ऐसे समय में भी साहित्यकार-व्यंग्यकार बाहयात हैं और एक से एक रचनाएं प्रस्तुत कर रहे हैं। इन स्थितियों को देखते हुए मुझे लगता है कि शायद साहित्यकार-व्यंग्यकार भी हृदय-परिवर्तन की आशा में होंगे और सोच रहे होंगे कि कभी तो उनके निबंधों की तर्कपूर्ण बातें और व्यंग्यवाण कारामती साबित होंगे। वैसे, प्रिंट तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के जरिए रखी जा रही बातें भी जब बेकार साबित हो रही हों; जब समाचार चैनलों पर अपना मजाक उड़ाया जाता देखकर नेता हंस-मुस्करा कर हवा में उड़ा देते हों, अपने खिलाफ मीम्स का स्वागत करते हों और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की हिमायत करते हुए लोकतंत्र में आलोचना को अच्छा तो मानते हों, लेकिन स्थितियां जस की तस रहती हों, तब किसी पत्रिका में छपा हुआ निबंध और व्यंग्य कितना काम का होगा? फिर भी, साहित्यकार-व्यंग्यकार हैं, कि रचे ही जा रहे हैं।

इसीलिए आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि हर महीने की तरह इस महीने भी विविध प्रकार के निबंध भी अपने-अपने यथोचित (?) स्थान पर अभिव्यक्त होने का प्रयास करेंगे।

अभिव्यक्ति के माध्यमों की दुनिया में समय का बड़ा महत्व होता है। इसलिए अभिव्यक्ति के माध्यमों के आयोजन और साहित्य के विषय मौसम के हिसाब से बदलें तो इसे सामान्य बात माना जाना चाहिए। सितम्बर माह में हिंदी दिवस, सप्ताह, पखवाड़ा वगैरह भी है और पितृपक्ष भी। यों कहें कि पितृपक्ष के बीच ही हिंदी दिवस है। इसमें भी कुछ विशेष नहीं है क्योंकि लगभग हर वर्ष पितृपक्ष और हिंदी दिवस आस-पास ही पड़ते हैं। लेकिन इस कारण हिंदी की चिंता में पितृपक्ष का भी कुछ न कुछ असर तो होगा ही। हिंदी के शोधार्थी इससे संबंधित विषयों पर भी शोध कर सकते हैं। मैं अपनी ओर से दोनों में समानता के कुछ हिंट दे रहा हूं, शायद किसी के काम आ जाएं:-

- पितरों को पितृपक्ष में ही स्मरण किया जाता है और तृप्त किया जाता है; बाद में भी नहीं और जब ऐसे पितर जीवित वृद्ध हों तब भी अक्सर उनकी पूछ नहीं होती। हिंदी के बारे में भी विद्वत् मंडली, मीडिया, सरकारी तंत्र आदि हिंदी सप्ताह के दौरान ही हिंदी की दशा आदि के बारे में चिंताग्रस्त होते हैं। उसके पहले भी नहीं और उसके बाद भी नहीं।

- पितृपक्ष में, मुर्दों की आत्माओं को तृप्त करने के लिए इंतजाम किए जाते हैं। उन मुर्दों की आत्माओं को भी तृप्त किया जाता है, जो मुर्दे कब के मिट्टी बनकर घास-फूस के रूप में उग गए होंगे और जानवरों द्वारा चर लिए गए होंगे और जानवरों के मलत्याग के बाद खाद बनकर अन्य पौधों के पोषण में काम आ रहे होंगे। बहरहाल, मृतात्माओं को बुलाया जाता है और उन्हें आया हुआ मान लिया जाता है। फिर उन्हें तृप्त किया जाता है और उन्हें तृप्त हुआ मान लिया जाता है। बीच में ब्राह्मण का भी रोल होता है। पितृपक्ष में केवल तीन पीढ़ियों के पितरों का तृप्त होना और ब्राह्मण का संतुष्ट होना वांछित होता है, इधर हिंदी समारोह में भी कुछ लोगों का तृप्त होना अपेक्षित होता है। हिंदी सप्ताह के दौरान भी संगोष्ठियों में भूतकाल में हिंदी के विकास के लिए किए गए प्रयासों का स्मरण किया जाता है। आम तौर पर हिंदी दिवस सरकारी कार्यालय में ही मनाया जाता है। इस मनाने में आयोजकों को संगोष्ठियों के वक्ता, कवि, पुरस्कार पाने वाले और न पाने वाले अधिकारी-कर्मचारी इत्यादि जैसे बहुत से लोगों को मनाना पड़ता है, जो तीन पीढ़ियों से भी हो सकते हैं, और उनके मान जाने के लिए उन्हें किसी न किसी रूप में तृप्त करना पड़ता है। इस प्रकार हिंदी दिवस में कई पक्ष का रोल होता है और सभी को तृप्त करना होता है।
- पितृपक्ष के संपन्न होने पर यजमान को सब कुछ ठीक-ठाक निपटने की अनुभूति राहत देती है तो हिंदी समारोह के निर्विघ्न गुजर जाने पर आयोजक के भी दिल को सुकून मिलता है।
- पितृपक्ष और हिंदी समारोह दोनों में कर्मकांड होते हैं। पितृपक्ष चूंकि परंपरागत है इसलिए कर्मकांड भी परंपरागत होते हैं। हिंदी समारोह आधुनिक युग की देन है इसलिए इसके कर्मकांडों में आधुनिकता का पुट होता है और इन्हें औपचारिकताएं कहते हैं।
- अब पितृपक्ष और हिंदी समारोह दोनों में लाभ पर भी बात हो जाए। किसी भी अपराध को सिद्ध करने के लिए वादी के वकील को प्रमाण देना पड़ता है कि घटना से किसे लाभ हुआ या हो सकता था। अब जब अपराध में लाभ की बात आती है तो गैर-अपराध में भी लाभ का कुछ न कुछ मसला होगा ही। पितृपक्ष में लाभ केवल ब्राह्मण को दिखाई देता है, लेकिन पूजा सामग्री बेचनेवाले को इस महीने का इंतजार रहता है। इसी प्रकार मिठाई, फूल, कपड़ा, परिवहन आदि के व्यवसाय से जुड़े लोग भी लाभान्वित होते हैं। अर्थात् पितृपक्ष कुछ लोगों के लिए लाभ का समय है। हिंदी समारोहों में भी लाभ के तत्व पाए जाते हैं। कुछ लोगों को वक्ता के तौर पर बुलाया जाता है, कुछ को कवि के तौर पर, कुछ को सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए और सभी के लिए पत्र-पुष्प की व्यवस्था होती है। फिर इसमें भी मिठाई, फूल, शॉल, परिवहन आदि के व्यवसाय से जुड़े लोग भी लाभान्वित होते हैं। कुछ आयोजक भी 'कैश या काइंड' के रूप में लाभ हासिल कर लेते होंगे, हालांकि इसका पुख्ता प्रमाण प्राप्त करने के लिए स्टिंग ऑपरेशन करना पड़ सकता है।

तो ये थीं कुछ समानताएं। रिसर्च करने के लिए पितृपक्ष और हिंदी दोनों के समर्थन और विरोध से संबंधित सामग्री की आवश्यकता होगी

ही; तो पितृपक्ष के मुद्दे पर समर्थन के लिए ब्राह्मणों में से विद्वान कर्मकांडी ब्राह्मणों से मुफ्त में भी सामग्री प्राप्त की जा सकती है। कर्मकांडी विद्वान ब्राह्मण खोजना कुछ श्रमसाध्य हो सकता है क्योंकि ब्राह्मण तो बहुत से मिल जाएंगे, लेकिन इनमें से कुछ ब्राह्मण तो "ईनामासी धम्म, बाप पढ़े ना हम्म" हो सकते हैं, तो कुछ ब्राह्मण एडवांस भी हो सकते हैं और विरोध करनेवाले भी हो सकते हैं। कर्मकांडी विद्वान ब्राह्मण ही तर्क देकर अपनी बात कहेगा भले ही वह सतर्क न हो। मुझे लगता है कि वह वेदों, पुराणों, उपनिषदों आदि के संदर्भ देकर अपनी बात कहेगा, लेकिन शायद कोई डेटा न दे पाए। हो सकता है आंकड़े दे भी दे लेकिन उन आंकड़ों का दस्तावेजी प्रमाण प्रस्तुत कर पाने की संभावना न के बराबर होगी। विरोध के लिए वामपंथी साहित्यकारों-पत्रकारों को यथोचित प्रसन्न करके सामग्री जुटाई जा सकती है। यहां ध्यान रखना होगा कि विरोध करनेवाला व्यक्ति भले ही तर्क दे या न दे, वह सतर्क जरूर होगा। उसके पास विरोध की पर्याप्त सामग्री होगी जिसमें से वह डेटा खूब दे सकता है। ऐसे में संतुलन बनाए रखते हुए अपने विवेक के अनुसार सामग्री में यथोचित संशोधन किया जा सकता है। हिंदी के समर्थन में सरकारी कार्यालयों के हिंदी विभाग के अधिकारियों-कर्मचारियों और हिंदी शिक्षण से संबद्ध लोगों से बात की जा सकती है, लेकिन इस मामले में भूसे में सुई खोजने जैसा प्रयास करना पड़ सकता है, क्योंकि हो सकता है कि कार्याधिक्य आदि किन्हीं

कारणों के प्रभाव से हिंदी की रोटी खानेवाले कुछ लोगों को हिंदी भाषा-साहित्य, हिंदी की विकास-यात्रा, हिंदी की समस्याएं वगैरह के बारे में जानकारी न भी हो, लेकिन प्रयास करने पर सही व्यक्ति से मुलाकात हो ही जाएगी और वे केवल प्रशंसा करने पर ही सहर्ष सहयोग करेंगे। जहां तक विरोध की बात है, तो इसके लिए पुरानी पत्र-पत्रिकाओं में निबंध आदि मिल जाएंगे, जिसका उद्धरण दिया जा सकता है। उल्लेखनीय है कि दोनों ही विषयों पर सितंबर माह में प्रकाशित - प्रसारित सामग्री से सहायता प्राप्त की जा सकती है।

यहां ऐस्पिरेंट्स के लिए भी लाभ का बिंदु है। लाभ यह होगा एक बार शोध हो जाए तो इस विषय पर व्यक्ति को अथॉरिटी समझा जा सकता है और हर वर्ष सितम्बर माह में आयोजित होने वाले व्याख्यानों में वक्ता या पैनलिस्ट के लिए आमंत्रण मिलना पक्का हो जाएगा और निबंध के लिए भी व्यक्ति डिमांड में रहेगा। इस प्रकार कालांतर में साहित्यकार-व्यंग्यकार भी हुआ जा सकता है। स्थितियों पर साहित्य का कितना प्रभाव पड़ेगा यह तो समय ही बताएगा लेकिन यह तो तय है कि स्थितियां बदलती रहती हैं, चाहे किसी कारण से बदलें। उन बदली हुई परिस्थितियों पर भी कोई न कोई तो लिखेगा ही और स्थितियों के बदलने के लिए चिंतन से प्राप्त राह साहित्य-व्यंग्य ही प्रदर्शित करेंगे। यही प्रक्रिया शायद चल रही है।

शायद इसी कारण से अब तक साहित्यकार-व्यंग्यकार लुप्त नहीं हुए।

संपर्क : धनबाद, झारखण्ड, मो. : 9934510298

स्मृति में भ्रंश-किउल नदी : मेरी कविताओं की धौंकनी

यतीश कुमार

मेरे बचपन के शहर को दो हिस्सों में बाँटती किउल नदी, आज भी अक्सर जेहन में रेंग जाती है, वो स्मृतियों के समागम के कछार पर मेरे भीतर उतरी अपनी अलौकिकता के साथ टहलती है। उसके तीरे बुद्ध की पदचाप थी जो मुझे बचपन से ही सुनाई पड़ती आ रही है। इसका मतलब तब और समझ में आया जब मैं लौकिक जीवन में एक नदी की तलाश में निकला।

मेरे जैसी ही थी वह। अचानक उमड़ जाने का डर चेतना की कुलबुली की तरह उभरता, सच कहूँ दरअसल थोड़ी नहीं वह पूरी बावली थी। नदी मेरे जेहन में धुँधली सी बहुतेरे शक्लों में बहती रहती है।

आदम के धकियाने से शहर फैलता है और नदी सिकुड़ती है। उसका सिकुड़ना मेरी आँखों की पुतलियों का छोटा होना है। इस सफर में ऐसा लगता है अकेली है नदी और बहुत अकेला मैं।

स्कूल से भागकर मेरा अकेलापन जब भी उसके पास जाता था, वो अपनी बाहें फैला देती थी। दूर तक रेत ही रेत जैसे मरुभूमि में खड़े हो, रेत काबिज थी बहुत खामोश हो गई थी नदी। पतली सी दो धार और बीच में बालुओं के दोआब, मानो जैसे आँखों से नीर बह रहे हों और वे मुस्करा रही हों। बुद्ध मेरी निगाह में झाँक कर हँस रहे हैं।

मेरी साँस अटक जाती और हम बालू के भीतर साँस दूँढते, साँस पानी की शक्ल ले लेती। पानी कछारते सैकड़ों छोटी-छोटी हथेलियाँ हाथ भर के कुएँ बनाती। हाथ भर पानी सोता बन फूटता और हम प्रसन्न नाचते-खेलते! वे सोते मेरे भीतर आज भी प्रस्फुटित होते रहते हैं।

नदी में हम खेलते थे और अब वो हमसे खेलती है समय-असमय सूख कर तो कभी बौरा कर। इस सोच में जब भी डूबने की नौबत आ जाती कि तभी जाग जाती थी नदी। रह-रह कर सूख रही है, रुक-रुक कर सिमट रही है। कभी बड़ी हो कर समुंदर की तरह लगने लगती तो कभी छोटी सी नहर जैसी। आज अभी चारों तरफ से सूखी है नदी, जबकि असमय सैलाब का हैबतनाक मंजर जमीन पर बसे शहर को दहलाता रहता है।

मेरी लेखनी में प्रवाह जब भी थोड़ा सा धूमिल होता है वो मेरी कविता में अनजाने बिना दस्तक दिये चली आती है। मेरी धौंकनी बनती है और फिर उसकी साँसे अंतस में बहे चले जाती है...

लोग उसे पागल नदी कहते हैं

जबकि सच्चाई यह है

कि नदी पागलों से त्रस्त हैं।

उपन्यास एक बटा दो पढ़ते हुए...

1.

नदी बहती है
तो संग बहता है मन
पर जब मचलता है मन
तो नदी में भँवर पड़ जाते हैं।

परास्त मन सुन्न हो जाता है
और पैर के पोर भी
अपने नहीं लगते
रेत पर पाँव के निशान छोड़ते हुए
प्रेम की ऊष्मा रीत जाती है
और ठंड की फुहार का आभास भर
बचा रह जाता है गुमस की घुटन में
स्थिति ऐसी कि
सांस गरम है या ठंडी
न उसकी समझ में आ रहा है
और न मेरी

2.

चौराहे पर अक्सर
वह जिंदगी-सा गोल चक्कर लगाते मिलता
वो तैरता कम है
और लहरें ज्यादा बनाता है
वह इतना सीधा है
कि उसकी जुल्फें बिखेरने का मन करता है
एक जाल खुद बुनती है
और उसी में उलझे रहने का दिल भी करता है
लड़कियों के जीवन में
तिड़कन सुनाई देते ही
पिता पहरदार बन जाते हैं
और माँ मूक
धोबी के मोगरी-सा बन जाती हैं
मजबूत लड़कियाँ भी

डरी हुई ऐसी
कि अक्सर अपनी बात कहने से पहले रो दे
रुकी हुई साँस
और घुटी हुई आँसू के बीच
लरजती हिचकी ही
अब उसकी सहेली है

3.

बाहर बारिश
और भीतर उमस
अक्सर एक साथ
क्यों बरसते हैं दोनों
उसकी बस छोटी सी इच्छा है
कि कोई उसे देह से ज्यादा चाहे
और धर दिया करे
सरापा भर चुम्बन बिना बात के
पर बिना आंघी के
रेत का एहसास लिए कचोटता है मन
किरकिरी शीशे पर चीखते हुए फिसलती है
और प्रेम में देह पर खरोंचों के निशान उभर
आते हैं
नख भर कटे चाँद लिए
पूरा अंधेरा अंतस में उतरता है
एक तीली बस है पास
क्या जलना जलाना है अब यही सोचना है

4.

प्रेम का स्पर्श ऐसा फुहार है
कि आशंकाओं को विश्वास के पौधे में बदल दे
जिन बगीचे में आस है
वे कमसिन बनी फिरती हैं

हौसला वह चिड़िया है
जो सवाल की दिशा में फुदकती हैं
पर सवाल हैं कि गुलेल में कस कर छोड़ो

समय की शिला पर

तब भी वापस लौट आती हैं
रेतीले रास्तों पर
जवाब अब भी मृगतृष्णा है
नजदीक दिखती है
पर हाथ नहीं आती

स्थिति ऐसी
कि झूला है पर सुकून नहीं
हाथ है पर थपकियाँ नहीं
घर है पर नींद ओसारे में ही आती है

5.

छाली की तहों में
चीनी के साथ रेत भी मिला है
रेशम की डोर समझ लपकती है

तो वह मूँज बन जाता है
झायना नहीं है
और उड़ना है
अब बिना आईने के
अपनी सूरत पहचाननी है

उसे उस समय की नदी को
पार कर के निकल जाना है
जिसके आगे वसंत की क्यारियाँ खिली हैं
और खुशबू इस पार इंतज़ार की शक्ल ओढ़े है

पर यह सच भी पता है उसको
कि पुल नदी को नहीं
समय को भी पार करता है
जिसके अंत में लिखा होता है 'उन्मुक्त गगन'

परिचय :

जन्म : 21 अगस्त 1976 (मुंगेर, बिहार)

यतीश कुमार ने पिछले कुछ वर्षों में अपनी कविता और कहानी के साथ-साथ चर्चित उपन्यासों, कहानियों व यात्रा-वृत्तान्तों पर अपनी विशिष्ट शैली में कविताई से एक अलग पहचान बनाई है। 1996 बैच के भारतीय रेलवे सेवा (मैकेनिकल इंजीनियर्स) के अधिकारी यतीश कुमार का दिल साहित्य के लिए धड़कता है। वर्ष 2021 में उनका पहला काव्य-संग्रह 'अन्तस की खुरचन' प्रकाशित हुआ जिसे, साहित्य-प्रेमियों और साहित्यकारों का भरपूर स्नेह मिल रहा है। उनकी कविताएं एवं संस्मरण देश के कई समाचार पत्रों एवं प्रसिद्ध पत्रिकाओं जैसे कि 'नया ज्ञानोदय', 'हंस', 'अहा जिंदगी', 'सन्मार्ग', 'प्रभात खबर', 'वागार्थ', इत्यादि में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। समाचालन, जानकी पुल, पहली बार, कविता कोश आदि चर्चित साहित्यिक ब्लॉगों पर भी उनकी रचनात्मक उपस्थिति है।

साहित्य साधना के साथ-साथ विभिन्न साहित्यिक-सामाजिक संस्थाओं से भी सक्रिय रूप से जुड़े हैं। श्री कुमार इन दिनों कोलकाता से संचालित प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था 'नीलाम्बर' के अध्यक्ष हैं। साथ ही डेढ़ दशक से बाल श्रम के खिलाफ जमीनी कार्य और उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न गैर सरकारी संगठनों का समर्थन करते हैं।

सक्रिय साहित्य सृजन और कुशल प्रबंधन यतीश के व्यक्तित्व की विशेषता है। भारतीय रेलवे सेवा में उत्कृष्ट योगदान के लिए उन्हें वर्ष 2006 में राष्ट्रीय पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है। किसी भी 'सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम' के अध्यक्ष एवं प्रबंध निदेशक के रूप में नियुक्त होने वाले देश के सबसे कम उम्र के अधिकारी यतीश कुमार वर्तमान में 'ब्रेथवेट एंड कंपनी लिमिटेड' (रेल मंत्रालय) का कार्यभार संभाल रहे हैं।

संपर्क : 8420637209

मुक्ताचल जुलाई-सितंबर 2022

83

वह आदमी

रास्ते पर चलते हुये झुक झुक कर
कंकड़-पत्थर और काँटे हटाने की आदत थी उसे
जबकि लोग उसकी हंसी उड़ाते थे

हरेक आते-जाते को बीड़ी देते हुये
अपने पास बैठा कर वक्रत की साजिशों पर बात
करना शुरू कर देता था वह लेकिन
लोग उसे अधपागल कहा करते थे

श्मशान में चिता की लकड़ियाँ तरतीब से रखना
उसे ही आता था सबसे अच्छा पर
उसके फफोलों की चिन्ता किसी को भी नहीं थी

बाज़ार से गुज़रती हुई लड़की पर
फ़ब्रियाँ कसने वाले शोहदों को वही रोकता था
कि प्रायः धकिया दिया जाता था

रेत के टीले पर मिली आज लाश
मर गया वह ठण्ड से अकड़ कर लाचार आदमी
मर गई जैसे बस्ती में आदमियत

अब करते रहिये पता
और बनाते जाइये इधर-उधर की फ़ालतू बातें कि
वह भूख से मरा या किसी व्याधि से
या कि घर नहीं होने से मरा या फिर
उसके पास कम्बल या आग नहीं होने से मरा कि
सामाजिक उपेक्षा से

•

कुण्ठा

नीमगीली लकड़ी की तरह सुलगती हुई
धुआँती ही रहती है कुण्ठा

कैलाश मनहर

मन के अतल में बहती हुई
आँखों को जलाये जाती है वह लगातार
ईर्ष्या और द्वेष की सहचरी वह
हरेक को मानते हुये अपना निपट शत्रु
नकारात्मकता में ही समझती रहती है
जीवन का मिथ्या उद्देश्य सदैव

वर्चस्व की लिप्सा में सनी रहती है वह
ज़िद और दृढ़ता को समानार्थी मानती
रूदन में ही हास्य ढूँढ़ते हुये
फिसल फिसल कर गिरे जाती है और
फर्श के चिकने होने पर दोष मंढ़ती है

अथाह गहरे अँधकूप में पलती है कुण्ठा
खाते हुये विषैले कीड़े-मकोड़े
साँप-बिच्छुओं पर सवार चलती रहती है
किसी अज्ञात गन्तव्य के लिये
और छीजती रहती है अकारण प्रतिक्षण

तनिक भी तो नहीं होती संवेदनशीलता
कुण्ठाग्रस्तता में जबकि प्रायः
आत्ममुग्ध भावुकता के रेशमी जाल में
स्वयं को सुखी समझती हुयी
अवसाद के दलदल में फंसती जाती है
आत्महत्या पर उतारू बनती एक दिन

खोल देता है जो भी मन की घुल-गाँठ
व्यस्त रहता है मेहनत में सदा
प्रेम करता है मनुष्यता और प्रकृति से
नहीं फंसता कुण्ठा-जँजाल में
उसे ही मिलता है खुशियों भरा जीवन

•

संपर्क : स्वामी मुहल्ला, मनोहरपुर (जयपुर-राज.), पिनकोड-303104, मो. : 9460757408

दस्तक के इंतजार में किवाड़

हवाएं अपनी सर्द नम ऊंगलियों से
 दरवाजों पर दस्तक दे दे
 चली गई
 उदे उदे बादलों से भरा आसमां भी
 बाहर खड़ा अपनी मौजूदगी दर्ज
 कराके चला गया
 हवाओं के सर्द गर्म दस्तकें ही
 दरवाजों का वजूद बनाये रखती हैं
 घर की दीवारें चौखट दरीचों के
 चिरयुवा होने की वजह यही
 दस्तकें तो हैं
 लेकिन अब तो ऐसा लगता है
 जैसे चौखट में जड़े दरवाजों के
 पल्ले झुर्रियों से भरने लगे हों
 दस्तकों की आहट लेने को
 अपना दिल भी खोले बैठा दरवाजा
 न कदमों की आहट न कोई हलचल
 मन मसोसकर जैसे पलकों के नीचे
 आँखें मूँद ले कोई
 मूँद लेते हैं दरवाजे अपने पल्ले
 आदत सी बनती जा रही दरवाजे
 भिड़काये कमरों की कैद में
 सहमे मन से साँसों की गिनती
 किये जाने की
 दबे पांवों की गुप-चुप सरगोशी
 दिन में एकाध बार साध लेती है
 कानों की तमाम खुसफुसाहट को
 दरवाजे के पल्ले भी दम साध लेते हैं
 पल भर को जब तलक कि पांव
 रूख नहीं कर लेते किसी और दर का
 एक अबूझ खामोशी है हर तरफ

दरवाजे भी उस खामोशी को
 घर के बाहर ठेलने में नाकामयाब
 और...इस नाकामयाबी का सबूत
 एक और झुर्री की शक्ल में
 चस्पां हो जाता है उसके पल्ले पर
 दस्तकों के बिना भला दरवाजे का
 वजूद कैसा, उसकी खुशगवारी
 की वजह क्या....

•
तुम्हें याद हो के न याद हो

उन चुक गए भाव , आवेग के क्षणों को
 फिर से क्या जिया जा सकता है
 जिन्हें तुम्हारे साथ के शुरूआती सालों में
 साथ साथ जिये थे हमने
 वे क्षण सर्वथा अलग थे इस दुनिया से
 कितने भव्य विशाल और चिरंतन
 नैसर्गिक हुआ करते थे
 मैं महसूस करती कि चाँद सितारे
 बंद हैं मेरी मुट्ठी में
 नितांत वैयक्तिक हुआ करते थे वे क्षण
 मेरे लिए जिनमें मेरे भाव
 आवेग की गति पाकर
 संपूर्ण ब्रह्मांड की सीमा माप आते थे
 कोई रहस्य मेरे लिए अनबूझा अनसुलझा
 हुआ नहीं करता था उन पलों में
 संतुष्टि की अतल गहराइयों से उबर
 मैं एक लंबे उच्छ्वास को भर देती थी
 अपने भीतर कि एक ही
 दीर्घ श्वास में सागर की
 अतल गहराई उतर आती
 डुबो देती आकंठ मुझे

आजतक उस सागर के
नमकीन बूंदों का स्वाद
महसूस करती रही हूँ मैं
अपनी देह के इंच इंच पर
भरा तुमने भी था अपने भीतर
बूँद दर बूँद उस स्वाद को
मुझे याद है सब अब तलक
तुम्हें तुम्हें याद हो के न याद हो

•

प्रतिवाद...

हमारे इर्द-गिर्द जो रेखा खींच दी
तुमने, वह कोई पानी या रेत पर खींची लकीर
नहीं थी जो लहरों के आने जाने से
हवा के आरोही अवरोही तान से
बह जाती, मिट जाती
वह तो वर्जनाओं की शिला पर
पितृसत्ता की अमिट स्याही से उकेरी
हमारे लिए सनातन अनादि अनंत
नियमावली थी जिसे कंठस्थ जिह्वाग्र
रखने की अपेक्षा...नहीं अपरिहार्यता
समझी जाती रही
जब कभी भी निरभ्र आकाश में
अथाह ऊँचाई पर उड़ते पक्षियों को देख
हमने एडियाँ उचकाते बाँहों को ज्यों ही फैलाया
क्यों तन गई तुम्हारी भृकुटि और तुमने चेताया
सदियों पहले सीता ने भी की गलती
रेखा को लांघ जिस अपराध को

रावण ने दी अपहरण की परिणति
मैं अनसुनी चीख मैं बदल गई
रेखा को लांघने का अपराध?
मुझे अग्रसर किया किसने?
तुम्हारे ही निर्धारित संस्कारों ने
धकेला मुझे मेरी नियति की ओर।
हर युग में सीता का ही जन्म क्यों
राम कहाँ हैं, मर्यादाओं की अलंघ्य
रेखा के भीतर स्तब्ध, किंकर्तव्यविमूढ़
या अब हर युग में राम को ही
धरती में समाना है चूंकि
सीता के लिए आज नई सजाएं
तज़बीज कर दी गई हैं जला दो
जीभ काट दो, सृजन की क्षमता ही न रहे
अंगों में सरिया घुसेड़ क्षत विक्षत कर दो
कब तक, कब तक - कभी परिवार के लिए
कभी समाज के लिए कभी परंपरा के लिए
सीता किसी न किसी नाम से
ऐसे किसी अनकिये अपराध के लिए
सजायापता घोषित कर दी जाती रहेगी
निर्वासित अपमानित प्रवंचित प्रताड़ित
कबतक गुहारेगी द्रुपद सुता कृष्ण को
अपनी अस्मिता के गौरव की रक्षा खातिर
आज तो न राम की मर्यादा शेष
न ही कृष्ण का मैत्री भाव
रावण दुःशासन जयद्रथों की भीड़ में
'मैं' अकेली? नहीं! मैं 'ही मेरा अस्त्र शस्त्र
'मैं' ही मेरा संबल 'मैं' ही मेरा प्रतिवाद
प्रतिकार तर्जनी संकेत मेरा, अकेली कहाँ 'मैं' ?

संपर्क : पूर्व प्राचार्या, डी.ए.वी. पब्लिक स्कूल आरा, भोजपुर (बिहार)

तीन कविताएँ

पिता दुःख को समझते थे !

पिता गाँव जाते तो पुराने समय में
घोड़ेगाड़ी का चलन था।
स्टेशन के बाहर प्रायः मैं इक्के
वाले और उसके साथ खड़े घोड़े को देखता
लोग इक्के से स्टेशन से अपने गाँव
तक आते-जाते थे
इन घोड़ों की आँखें किचियाई होतीं
घोड़वान के चेहरे पर हवाइयाँ उड़तीं
पिताजी के अलावे अन्य सवारियों को देखकर
ही इक्के वाले की आँखें खुशी से चमकने लगती।
घोड़े को लगता कि आज उसे खूब
हरी घास खाने को मिलेगी।
इक्के वाला हफ्तों से उपवास चूल्हे
में आग जलती देखता
उसकी आँखों में नूमायाँ
हो जाती रोटी और तरकारी
जरूर उसने आज किसी भले आदमी
का चेहरा देखा होगा
तभी तो दिख रही हैं सवारियाँ
पिता साधारण इंसान थे
मरियल घोड़े पर सवार होना
उन्हें, यातना सा लगता
लगता उन्हें सश्रम कारावास
की सजा मिल रही है
वो, परिवार के सारे लोगों को
इक्के पर बैठने को कहते
लेकिन, वो खुद घोड़े के बगल से पैदल-पैदल
ही चलते
माँ, बार-बार खीजती कि कैसा भोंभड़ है
मेरा बाप
लेकिन, पिता घोड़े के दुःख को समझते थे

महेश कुमार केशरी

तभी तो समझते थे, वो रिक्शेवाले के दुःख को
भी
परिवार के सारे लोग रिक्शे पर चढ़ते लेकिन
पिता पैदल ही रिक्शे
के साथ चलते ..
चाहे दूरी जितनी लंबी हो
कभी-कभी दुःख को समझने के लिये
घोड़ा या इक्के वाला नहीं होना पड़ता
बस हमें नजरों को थोड़ा सीधा करने
की जरूरत होती है।
लोगों का दुःख हमारे साथ-साथ
चल रहा होता है।
ठीक हमारी परछांही की तरह ही
लोगों का भोंभड़ या मूर्ख संबोधन
पिता को कभी विचलित नहीं कर सका था।
वो जानते थे कि मूर्ख होने का अर्थ अगर संवेदन
हीन होना नहीं है
तो, वो मूर्ख ही ठीक हैं
मूर्ख आदमी कहाँ जानता है
दुनिया के दाँव पेंच!
इससे पिता को कोई फर्क नहीं पड़ता था
लोग पिता के बारे में तरह-तरह की बातें करते
कहते पिता सनकी हैं
लेकिन, मैं हमेशा यही सोचता हूँ
कि पिता, घोड़े और रिक्शेवाले का दुःख
समझते थे।
मुझे ये भी लगता है
कि हर आदमी को जानवर और आदमी के
दुःखों को
पढ़ लेना चाहिये या कि समझ लेना चाहिये जो
इस दुनिया में सबसे ज्यादा

दुःखी हैं।

पिता समझते थे या सोचते थे
घोड़े की हरी घास की उपलब्धता के बारे में
इक्के वाले के बिना धुँआये चूल्हे के बारे में
हमें भी समझना चाहिये सबके दुःखों को
ताकि हम बेहतर इंसान बन सकें।

•

परिणत होते पिता

जीवन की तरुणाई वाली सुबह
पिता हट्टे-कट्टे थे।
गबरू और जवान

उनकी एक डाँट पर
हम कोनों में दुबक जाते
उनका रौब कुछ
ऐसा होता जैसे तूफान के बाद का सन्नाटा

दादा जी और पिताजी की शक्ल
आपस में बहुत मिलती थी।
जहाँ दादाजी, सौम्य, मृदु भाषी थे
वहीं..पिता, कठोर ..

कुछ, समय बाद दादाजी
नहीं रहे ..
अब, पिता संभालने लगे घर

जो, पिता बहुत धीरे से
हँसते देखकर भी हमें डपट देते थे
वही पिता, अब हमारी, हँसी और
शैतानियों को नजर अंदाज करने लगे

धीरे-धीरे पिता कृशकाय होने लगे
वो, नाना प्रकार के व्याधियों से

ग्रसित हो गये...

बहुत, दुबले -पतले और कमजोर
पिता कुछ ज्यादा ही ख़ाँसने लगे

बहुत- बाद में हमेशा हँसते- मुस्कराते
रहनेवाले पिता और घर के सारे फैसले अकेले
लेने वाले पिता

अब खामोश रहने लगे
वे अलग-थलग से अपने कमरे में पड़े रहते
उन्होंने अब निर्णय लेने बंद कर दिये थे...

अपनी अंतिम अवस्था से
कुछ पहले
जैसे दादा जी को देखता था

ठीक, वैसे ही एक दिन पिताजी
को मोटर साइकिल पर कहीं बाहर जाते
हुए पीछे से देखा
हड्डियों का ढाँचा निकला हुआ
आँखों पर मोटे लेंस का चश्मा

मुझे पता नहीं क्यों ऐसा ..लगा
दादाजी के फ्रेम में जड़ी
तस्वीर में धीरे-धीरे परिणत होने लगे हैं..पिता..

•

बायाँ हाथ

ये सबसे पहले आदमी ने कहा

नहीं बोहनी, बाएँ हाथ की नहीं
करवाओ, मेरा दिन अशुभ बीतेगा
पैसे दाएँ हाथ से दो।
दायाँ हाथ शुभ होता है!

नींव पर पहला पत्थर
दाएँ, हाथ से रखो
बाएँ हाथ से कोई शुभ
काम नहीं किया जाता।

नहीं-नहीं प्रसाद तो बिल्कुल
बाएँ हाथ से मत लो
देवता गण नाराज हो जाते हैं।

जबकि, बाएँ हाथ ने ही हमें
अक्सर उन्मत्त
जब मजदूर का हथौड़ा
अकेले दायाँ हाथ
नहीं चला सका तो बायाँ
हाथ खुद आगे आया
और, थाम लिया कुदाल की मूठ

धरती पर बने तमाम मंदिरों
-मठों को बनाते वक्त कारीगरों
का बायाँ हाथ भी काम आया।

दाएँ हाथ को बाएँ हाथ
ने जब जोर लगाकर
पकड़ा और धरती का
सीना चीर डाला तो

धरती उगलने लगी सोना!
तब काम आया बायाँ हाथ !
खुद जब मैं कई बार
गिरने को हुआ
तो दाएँ हाथ से पहले
मुझे अक्सर संभाला बाएँ
हाथ ने!

आदमी होकर हमने बाएँ और दाएँ
हाथ में भेद किया
लेकिन, बायाँ हाथ बिना
बताये दायाँ हाथ की मदद
करता आया।

उसने नहीं विचारा, काम करने
का कोई भी शुभ समय

चौघड़िया, मुहूर्त, के फेर में
कभी नहीं पड़ा बायाँ हाथ!

ग्रह - गोचर के टोटके
बाएँ हाथ के आड़े नहीं आये!

ना ही बाएँ हाथ ने
किसी दिन को खराब बताया
आदमी की तरह!

संपर्क : मेघदूत मार्केट फुसरो, बोकारो झारखंड, पिन-829144, मो-9031991875

Email : keshrimahesh322@gmail.com

1.

धूप से फिर छाँव में हम आ गये
ज़िन्दगी के अर्थ फिर धुँधला गये

आपको बचना था सच्चाई जब
आईने के सामने क्यों आ गये

मुद्दतों के बाद वो मुझसे मिला
लफ़्ज़ मेरे जाने क्यों पथरा गये

आये थे सुलझाने को वो उलझनें
उलझनों को और भी उलझा गये

कुछ तो हम दुनिया से शर्मिन्दा रहे
कुछ हम अपने आप से शरमा गये

2.

अभी तू और मेरा कितना इम्तहाँ लेगा
कि इम्तहाँ के बहाने तू मेरी जाँ लेगा

मेरे बदन का हर इक ज़ख़्म दे रहा है बयॉ
मगर वो फिर भी मेरा हलफ़िया बयॉ लेगा

न बख़्शाना तू किसी को ज़मीन अब यारब
ज़मीन दी तो वो थोड़ा सा आसमाँ लेगा

ज़मीं पे जुल्मो सितम कर रहे हो जितने भी
कल एक-एक का बदला वो आसमाँ लेगा

तुझे भी लग ही गयी शायरी की लतआखिर
कि तू भी दर्द की बस्ती में अब मकाँ लेगा

3.

आदमी जो ग़म उठाता जा रहा है
अपने होने की सज़ाएं पा रहा है

याद वो पीरी में कितना आ रहा है
उम्र भर जिससे तू कतराता रहा है

तू समझता है कि उसको पा रहा है
अस्ल में तू उसको खोता जा रहा है

आज तक खुद को ही जो समझा न पाया
बात वो औरों को तू समझा रहा है

भूलके भी भूल ये जीते जी मत कर
मिलिकियत बेटों को देने जा रहा है

कैसे हों शीरीनियाँ बातों में उसकी
उम्र भर जो तल्लियाँ पीता रहा है

4.

जब से हम बेवफ़ा हो गये
वो वफ़ा के खुदा हो गये

हर तरफ़ ज़ख़्म ही ज़ख़्म है
फूल सारे वो क्या हो गये

ढँक लिया चाँद को अब्र ने
चाँदनी से ख़फ़ा हो गये

आप हमसे मिले भी तो कब
जब इरादे हवा हो गये

आके मिलते हैं वो अलसुबह
गोया बादे सबा हो गये

इक मुलम्मे का है ये असर
काँच से आईना हो गये

संपर्क : धर्मेन्द्र गुप्त, के 3/10 ए, माँ शीतला भवन, गायघाट, वाराणसी -221001

मो. : 8935065229, 8004550837, Email : dharmendraguptsahil@gmail.com

दो कविताएँ

मोतीलाल दास

हमारा सूरज

उनकी आंखें
बाघ सी चमक रही है
और जीभ
सांप सा लपलपा रहा है

मुझे पता है
अभी वे दौड़ पड़ेंगे
और जला डालेंगे
उन कच्चे मकानों को
और सकेंगे
जिंदा गोश्त को
उन चीखती आंचों से
और खोलेंगे
शराब के ढक्कन हवाओं में
और जलती लाशों का गंध
शराब के गंधों से मिलाकर
वे गटागट पीते मिलेंगे

उनकी आंखें भी
अंगारे सा धधक रहे हैं
और जीभ
सूखता चला जा रहा है

मुझे पता है
अभी वे दौड़ पड़ेंगे
रात के सन्नाटे में
गांव से दूर
उस पीपल के नीचे
और बनाएंगे खैनी
उन पक्के मकानों के
मसल के जिसे

दबाया जा सके मुंह में
ताकि बचाया जा सके
अपनी बहू बेटियों को
उन खूंखार दरिदों से

मेरी आंखें
देखना चाहती है
प्रकाश की किरणों
पर जलती झोपड़ियों से
आंखें चौंधिया जाती है
और खैनी का बंद होना मुंह में
बस अंधेरे में टटोलना भर है
न जाने कहाँ
मेरा सूरज खो गया है।

•

कविता या खबर

यह कविता कैसे हो सकती है
उस खौफजदा पल का
जब दस मजबूत हाथ
दो कच्ची जांघों को
चिर डाल रहे थे
और छूटते खून की गंध
तुम्हारे ड्राईगरूम में
नहीं पहुंच पा रही थी

हां अखबार के पन्ने
दूसरे दिन
उस गंदे रक्त से
जरूर सना दिखा
आखिरी पन्ने के

आखिरी कालम में
कि फलां लोकल ट्रेन में
आठ वर्षीय मासूम बच्ची को
उन पांच दरिदों ने
तहस नहस कर दिया

हां यह पल
नहीं हो सकती
तुम्हारे लिए कोई कविता
और तुम्हारे अंतस में कुछ
काफी के भाप के संग
भाप बन रहा है
और उड़ी जा रही है
सारी की सारी कविताएं
व गर्मा गर्म खबर
नाश्ते के संग
तुम्हें गर्मी पहुंचा रहा होगा

यह पल
कविता के बिना भी
समर्थ है
कई परतों को खोलने में
और देने में सार्थक अर्थ
उन लकीरों को
जिसे तुम भले अनदेखा कर दो

एक दिन
वह जरूर चिल्लायेगी
तुम्हारी ही रसोई से
तब देखना है
तुम कैसे
इत्मिनान से खबरे पढ़ोगे
और कैसे ढाल पाओगे
इस कविता को
खबरों की शक्ल में।

संपर्क : मोतीलाल दास, डोंगाकाटा, नंदपुर, मनोहरपुर - 833104, झारखंड
मो. : 9931346271/7978537176

तीन कविताएँ

1.

किसी एक इंसान के सीने में क्या गहरा होता है,
 यह कोई नहीं जानता
 सिर्फ साँसे चलती रहती हैं
 कोई उदास कैसेट की तरह वेदनाओं से भरी हुई
 इस सीने में आहें भरने के बाद
 आह अंतहीन लग रही थी
 जैसे एक तीव्र महाकाव्य
 पत्ते पत्ते में आँसू की बूंदें
 और वहाँ पर लिखित शब्दों में कुछ
 मन की वेदनाएं महाकाव्य के दुखद आवरण की
 तरह
 इंसान के सीने में कितनी आह भरती है
 कोई नहीं जानता है।

2.

शोक सीने में एक भार हो कर आता है
 साँसे तेज, एक एक शब्द भी
 मैं साँसों के सामने अपने
 घुटने पर आकर बोलता हूँ
 सुनो यह बाँसुरी का भी
 अपना दुःख है
 एक दर्द, कुछ नीरवता
 जैसे दुःख का जाना पहचाना गंध
 लगी रहती है
 शरद ऋतु की ऊबड़-खाबड़ हवा में
 या ऋतुओं का दुखद गीत में
 बाँसुरी क्या जानती यह बात

रजत सान्याल

सिर्फ जानती है जीवन और मृत्यु के बीच
 रात में जागता रहता है अनिकेत या
 जो बेघर, बेसहारा
 आवहमान काल से
 धुन का बेहोश होना

3.

चिता में सजी हुई है
 चंदन की लकड़ियाँ
 एक घर, कुछ किताबें
 कलम, शब्दों की आवाज़
 व्याकरण, वर्णमाला,
 कुछ समय के बाद
 आग जल जाएगी
 उनका शरीर हो जाएगा राख
 राख हो जाएगा
 सब अक्षर, वर्णमाला
 कविता की भाषा
 फिर भी हम लिखते
 रहेंगे एक अलग वातावरण में!
 कविताएँ, कहानियाँ
 कवि की उंगलियाँ अगर कट
 भी जाए
 साँसे भी रोक दी जाएं
 जित्वा काट ली जाए
 तो हम कविताएँ लिखते रहेंगे
 कवि कभी भी मर नहीं सकते
 हम महाकाव्य रचते ही रहेंगे।

संपर्क : रजत सान्याल, फ्लैट 101 योगीसेवा 2, 12ए, सेवाश्रम सोसाइटी, आनंद विद्या विहार
 के पीछे, एल्लोरा पार्क वडोदरा 390023 गुजरात, मो. : 9898783519/9664698130

डरावनी भविष्यवाणियों के बीच कविता

लीलाधर जगुड़ी

कविता जब कविता के बने-बनाये रास्ते पर जाती हुई दिखने लगे या यह अनुभूति देने लगे कि कोई नया रास्ता निकल नहीं रहा है या इतनी शब्द बहुलता के बाद भी कोई बात बन नहीं रही तो समझना चाहिए कि अब कविता में एक ठहराव आ गया है। घूम-फिर कर हर रास्ता वहीं आ रहा है जहाँ से उसने प्रस्थान किया था। ऐसे समय में यदि कविता **लोक** की ओर लौट आती है तो कोई न कोई रास्ता निकलेगा। चाहे वह कितना ही स्थानीय क्यों न हो, उससे भी चाँद, सितारे और सूर्य दिख रहे होंगे। उस लोकधर्मी रास्ते में कुछ नये सामाजिक पशुओं और जंगलों से ऐसी मुठभेड़, ऐसी मुलाकात हो सकती है कि उसकी साहसिक और वैचारिक गूँज वैश्विक पटल पर किसी प्रेम कविता जैसी सुनाई दे सकती है।

मेरे लिए यह अविस्मरणीय अनुभव था जब **विपाशा** के सम्पादक तुलसी रमण का वह पत्र मिला जिसके साथ भारत के अनाम हिन्दी कवि अपने गोपनीय अंकों वाला नाम लिए हुए नत्थी थे, उनकी कविताओं के साथ कि इनमें से प्रथम, द्वितीय और तृतीय के अलावा चार सान्त्वना पुरस्कारों के लिए कुल सात लोगों का चयन किया जाना है। मुझे प्रसन्नता इस बात की है कि कवियों ने प्रतियोगिता को महत्त्व न देकर, जैसा वे सोचते और लिखते हैं उसके तहत अपनी-अपनी प्रयोगधर्मिता को महत्त्व दिया है।

प्रतियोगिता का स्वभाव है कि वह चुने हुए लोगों को ही महत्त्व देती है और उन्हीं के गुण-दोषों पर तुलनात्मक विचार करती है। लेकिन मैं यहाँ बाबा नागार्जुन के शब्दों में पहले उनका स्मरण करना उचित समझता हूँ जो प्रतियोगिता की सीमाओं के कारण चुने न जा सके : **हो न सके जो पूर्ण काम : उनको प्रणाम।**

उनके सपनों के जंगल भी वनस्पतियों से भरे हैं। वहाँ नगण्यता का स्वाभिमान भी झलकता है। लेकिन सारे संघर्षपूर्ण वक्तव्यों के बाद भी कविता कहीं-कहीं ही बन पाती है। कविता वही अच्छी बन पाती है या अच्छी लगती है जो ऐसी कोई बात कहती हो जो अब तक न कही गयी हो। अज्ञात, अकथित और अपरिचित बात ही शायद वह अंदाजे-बयाँ है जो किसी अनुभव की भाषिक परिणति को काबिले याद बना दे। शब्दों और पंक्तियों के अम्बार में कविता अगर कहीं है भी तो दबकर मर जाती है। आसमान विराट है, लेकिन उसमें कभी भी कहीं भी भारीपन नहीं दिखाई देता जो कि एक इमारत में दिखाई देता है। कविता के स्पेस को ब्लिडिंग की तरह भारी नहीं, बल्कि

आसमान की तरह अपनी विराटता के साथ-साथ हल्का और जीवन को एक नयी साँस देने वाला पारदर्शी तत्व उसमें होना चाहिए। न जाने हुए की अभिव्यक्ति को जानने और खोजने की कोशिश ही शायद कविता है। उसी से जाने हुए और खोजे जा चुके से युक्त और मुक्त होने की शक्ति भी मिलेगी। सचमुच कवि होना उतना ही कठिन है जितना एक अच्छी कविता का होना। एक अच्छी कविता ही सूचना देती है कि एक अच्छे कवि का जन्म हो चुका है। जीवन भर अच्छा कवि बने रहना, बिना खराब हुए संभव नहीं है। खराबियों के बावजूद कोई फिर अच्छा हो जाये तो उत्कृष्टता में भी सुधार की संभावना बनती है कि यह तो फिर चल निकला।

कवि को खराब करते हैं प्रायोजित आलोचक और समीक्षक। कवि ही क्यों वे हर रचनाकार को बर्बाद कर देते हैं। लेकिन कवि जब खुद की खराबियों की खुद मरम्मत करता है और जब वह अपनी गति, अपना प्रवाह फिर पा लेता है तो उसके अनुभवों का ईंधन उसे कभी बन्द नहीं होने देता। अच्छा कवि तब भी अपना काम कर रहा होता है जब वह सामान्य तौर पर कुछ करता हुआ नहीं दिख रहा होता है। वह फिर कुछ बनाना चाह रहा होता है जो वैसे बना-बनाया कभी मिल ही नहीं सकता।

जो प्रमुख कवि इसमें चुने गये हैं उनके गोपन अंकों वाले उन असली नामों को मैं बधाई देना चाहता हूँ। इन कवियों में खासकर जो हिमाचल से हैं उनकी भाषा और अनुभूति का पहाड़ीपन खुद बता देता है कि वे हिमाचल और उसके इर्द-गिर्द से हैं।

मुझसे जिस 632 गोपन क्रमांक वाले कवि ने सबसे ज्यादा अंक ले लिए उस कवि को बधाई। उन्होंने अपनी कविता में अपने समय

और समाज की बुराइयों को अपने से न मिल पाने की दीवार के रूप में खड़ा किया है, पर बड़ा डर लगता है जब यह चीन की दीवार जितनी लम्बी होने लगती है। कवि अपने से मिलने के खतरे गिनाता है और उन खतरों के माध्यम से पूरी दुनिया में फैल जाता है। इन तक मुक्तिबोधियन स्याह कुओं के भय, सन्नाटे के साँप, जटायु के रक्त रंजित पैरों को रौंद कर ही पहुँचा जा सकता है। जले हुए जंगल में वापसी के लिए चिह्न उकेरते हुए ही पहुँचा जा सकता है। इनसे मिलने आने वाले पैरों से लिपटी हुई सूखी नदी से पिंड छुड़ा पाना मुश्किल है।

कुछ कवियों में अपने हिमाचल और अपने पहाड़ों को देखने का नजरिया बिल्कुल अलग किस्म का है। इसमें स्थानीयता को वैश्विक सहभागिता के साथ देखा गया है। यह भी इन कविताओं में देखने को मिलता है कि आधुनिक मनुष्य में भी एक आदिम मनुष्य छिपा हुआ है जो बताता है कि आदिम (सबसे प्राचीन) मनुष्य भी किसी न किसी हद तक आधुनिक था। आधुनिकता ही प्रगति की कुंजी है। सिर्फ फैशन के स्तर पर आधुनिक होना बाजार का दबाव हो सकता है, लेकिन ज्ञान-विज्ञान के रचनात्मक धरातलों पर आधुनिक होना कर्म और विचार के स्तर पर नया होना हो जाता है।

कुछ और कवियों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्त करने के लिए गुरुत्वाकर्षण, संलयन, ब्लैक होल, डोपा माइन, ऑक्सीटोन जैसी भारी-भरकम शब्दावली का इस्तेमाल किया है, बिना यह सोचे कि कितने लोग इनके असली अर्थ-प्रसंगों को जानते हैं या जानने की इच्छा रखते हैं। अगर रखते भी हैं तो क्या ये शब्द विज्ञान में निहित अर्थ के अलावा किसी सामाजिक अर्थ को भी पैदा कर सकते हैं। बहुत से कवि विज्ञान के कमाये हुए सत्य को अपनी कविता का विषय

बनाते हैं और हम देखते हैं कि कवि का स्वयं का कमाया हुआ वैज्ञानिक सत्य वहाँ अनुपस्थित है। कवि का कमाया हुआ विज्ञान, साइंस से कतई भिन्न होगा। स्थापित और परिचित रूपक, बिम्ब और प्रतीक इत्यादि हमेशा अभिव्यक्ति को नया होने से रोकते हैं। बहुत पहले अज्ञेय कह चुके हैं कि - 'देवता पुराने प्रतीकों के कर चुके हैं कूच'। लाफ्टर चैलेंज ने हिन्दी कविता के हास्य रस को वीभत्स रस में बदल दिया है। अब समय आ गया है कि हास्य को फिर मनुष्य के मूल सौन्दर्य की निशानी और प्राथमिक संवाद की भाषा, मृदु मुस्कान से जोड़ दिया जाये। क्योंकि मुस्कान ही असल में हँसी का मूल बीज है। मूल बीज बचा रहेगा तो मुस्कान और हँसी दोनों की रक्षा और उत्पत्ति होती रहेगी।

बहुत-सी कविताओं में गाँव को उसके नीरव वातावरण के लिए याद किया गया है। लेकिन यह नहीं बताया गया कि उसकी निर्जनता, नीरवता और सन्नाटे भरी जिन्दगी कितनी बीमारियों और अभावों से भरी हुई है। कितनी स्वप्नविहीनता और ऊब वहाँ फैली हुई है। पता नहीं चलता कि दुर्दशाग्रस्त गाँवों को ये कवि किस खूबी के लिए याद कर रहे हैं। आज जैसे समाज को एक बेहतर आदमी की जरूरत है वैसे ही एक बेहतर गाँव की भी जरूरत है। कुछ न कुछ तो गाँवड़ीपन हमें खोना ही होगा। और जिसे खोना है तो जाहिर है कि वह काम का नहीं या कि पिछड़ा हुआ है। पिछड़ेपन की तारीफ करने के लिए गाँव को याद करने से नास्टेल्लिया (घरेलू मोह) भी ठीक से प्रकट नहीं हो पाता। उल्टा एक बेहतर गाँव के बारे में कवि की समझ की पोल खुलती नजर आती है। नंग-धड़ंग बच्चों में बहुत ज्यादा सौन्दर्य देखना उन्हें सभ्यता के सारे लाभदायक तत्वों से वंचित करने में शामिल

होना, मुझे दिखाई पड़ता है।

फेसबुक जैसे नये विषय भी कविता में आये हैं, लेकिन उन्हें अपने देसी सन्दर्भों की कमी के कारण विदेशी दैनन्दिनी से बुना गया है। भारतीय स्त्री भी आज फेसबुक को फेस कर रही है या करने लगी है। अपने परिवेश की किरवें भी उस स्त्री को चुभती हुई महसूस हो रही हैं, यह अनुभूति फेसबुक को तो नहीं, पर उस स्त्री को वापस ले आती है, जिसका चेहरा बिना फेस बुक के भी हमारे बीच मौजूद है, रेत में फँसी हुई मरणासन्न मछली की तरह।

पहाड़ों पर जो कविताएँ हैं उसमें रूमानीपन पहाड़ी यथार्थ के मुकाबले ज्यादा है। लेकिन कुछ कवियों ने उस रूमानीपन को अपनी आधुनिक दृष्टि से जीवन के गहरे सरोकारों में बदल दिया है। बर्फ से गरीब लड़कों का खेलना याद दिलाता है - सैलानी अमीर लड़कों का बर्फ से खेल। दोनों में ठंड और गरमी का अनुपात अलग-अलग है। पहाड़ों पर छोटे लोगों के देवता भी छोटे हैं। भोले और निर्धन। यहाँ के देवता करोड़पति या अरबपति मन्दिरों के देवता नहीं हैं। कवि यहाँ वृक्षों के झुरमुट को ज्यादा बड़े मन्दिर के रूप में देखता है। ऐसे पहाड़ी लोग सोचते हैं कि उनकी तो आत्माएं भी अमर नहीं हैं।

एक समय ऐसा आता है जब किसी भी कविता का कलेवर, उसका स्थायी रूप और शिल्प बन जाता है। यही शिल्प पहले उसकी शक्ति और आजादी और यही बाद में उसकी रीति और रूढ़ि बन जाता है। आजकल पंक्तियों को टेढ़ा-मेढ़ा लिखने का मतलब है कविता और सीधे-सीधे लिखने का मतलब है - गद्य। यह कोई नहीं देख रहा कि कविता बनी या नहीं? क्या है जो वहाँ कविता है? क्यों उसे कविता कहें? उसे निबन्ध या कहानी क्यों नहीं कहा जा

सकता? जीवन की चाहे जो कथा रचनाकार ले, उसे अपने काव्यानुभव में पिघलाकर स्टील या सोने जैसा या पानी जैसा कुछ तो बनाये। कुछ तो ऐसा बनाकर प्रस्तुत करे जो वैसे न बनता। निबन्धात्मकता, कहानीपन, औपन्यासिकता, सूक्ति परकता और नाटकीयता ये सारे गुण (मगर एक साथ) कविता में भी हों तो आनन्द आ जाये। जैसा कि 'नाटक' विधा में ये तत्त्व मौजूद रहते हैं, मगर नाटक बनकर। इसी तरह कविता में भी सबकुछ कविता बनकर आना चाहिए। कविता में यदि सारी विधाएँ एक-दूसरे की पूरक बनकर आयें और फिर भी अपने काव्यत्व को बरकरार रख सकें तो यह अभिव्यक्ति के स्तर पर सचमुच बड़ी बात होगी।

कविता की सादगी को कवि की लाचारगी में न ढलने दिया जाये, जिसे भाषा की सरलता के नाम पर सराहा तो जा सकता है पर उसका मर्म कुछ भी हाथ न लगे। ऐसी भाषा केवल भाषा है - कविता नहीं। सरलता में अगर अर्थ की गहरी सादगी नहीं है तो ऐसे प्रयत्न कविता

को और बोझिल, और त्याज्य बनाते रहेंगे।

कविता ने अपने प्रारम्भिक काल से मनुष्य का इतिहास, भूगोल और उसकी सम्पूर्ण नियति बनने की कोशिश की है। आज भी वैसी कविता को चिह्नित किया जाना चाहिए जो कविता को नयी ऊर्जा और कर्मवाच्य से भर दे। जिसमें जाना हुआ भी इस तरह आये कि जैसे वह अनजान हो।

अन्त में यह भी कहना चाहूँगा कि कविताओं का मूल्यांकन इस दृष्टि से भी किया गया है कि कौन-सी कविता मुझे कविता होने की ओर अग्रसर लगी और कौन-सी सिर्फ कविता जैसी कविता लगी। नम्बर देने में भी काफी कठिनाई महसूस हुई, लेकिन सम्पादक **विपाशा** द्वारा कथ्य, भाषा-शैली और समग्र प्रभाव जैसे विभाजन के आधार पर सोचने, जाँचने और महसूस करने से अलग-अलग प्रतीतियों का सामना करना पड़ा है। इस विभाजन से काफी सहायता मिली है। सभी सहभागी कवियों का स्वागत और सफल लोगों को बधाई - **'हो न सके जो पूर्ण काम उनको एक बार फिर से प्रणाम!'**

कलाप

उत्तरकाशी जिले का एक गांव
नब्बे डिग्री पहाड़ पर बसा है - कलाप
कठिन कलाप में...क्रियाकलाप
हिमालय को उगाने वाली प्रलय में
समुद्र जिन चट्टानों को चोटी पर छोड़ आया था
उन्हीं चट्टानों के बीच से कलाप का रास्ता
(रास्ता नहीं वरना चौड़ा हो जायेगा)
चोटी पर लटकती चट्टानों के बीच कलाप का रास्ता
घाटी से देखो तो कलाप जाते लोग
बिना फुटे अंडे में चूजे से दिखते हैं
हे भगवान! कलाप के लोगों को ऊँचे कद मत देना
वरना सिर पर लटकी चट्टानों से टकरायेंगे
उनके सिर
कलाप जाते हुए पीठ पर बंधे बछड़े घायल हो जायेंगे

गले बंधे बच्चे गिर पड़ेंगे
कलाप में पीठ पर जानवर
छाती पर बच्चा ले जाते हुए
मीलों रस्से जैसे संकरे छज्जे से गुजरना पड़ता है
आसमान में कोरा हुआ सा
बादलों में उकेरा हुआ सा
घास ढकी चट्टानों में छिपाया हुआ सा दिखता
है एक रस्ता (रास्ता नहीं)
जो बछड़ी जो कटड़ी
कलाप पहुंच जाती है
कलाप की गाय बनकर कलाप की भैंस बनकर
जीती भरती है
कलाप का सांड बकरे बराबर
कलाप का भैंसा मेंढे बराबर
कलाप के जानवर कलाप में ही बिकते हैं।

कलाप - 2

कलाप में कोई रंडवा नहीं
 कलाप में कोई विधवा नहीं
 कलाप के रिश्ते कलाप में ही लगते हैं
 कलाप में प्रेम भी एक विपत्ति है
 गीत भी एक घेंघा है गले में
 कलाप से बूढ़े उतर नहीं सकते
 कलाप को बच्चे पढ़ नहीं सकते
 कलाप नहीं आ सकते बाँक जवान
 बौने जवान वहाँ दूढ़ने नहीं पड़ते
 बौने बूढ़े वहाँ बच्चों जैसे दिखते हैं
 झगड़ने जैसा बतियाना और बतियाने जैसा झगड़ना
 कुछ अजीब सी गू-गू होती रहती है
 जो होता है कुल तीस-पैंतीस शब्दों में हो जाता है
 हर कोई अपने में बड़-बड़ाता रहता है

अपने को दोहराना ही वहाँ कुछ करते रहना है
 कलाप में बहुत कम बोली बहुत कम भाषा है
 कलाप में बहुत कम आशा और उससे भी कम निराशा है
 कलाप वालों से ज्यादा घूमे-फिरे हैं कलाप के रीख-बाख
 कलाप में कौवे ज्यादा देर नहीं रुकते
 आखिर कलाप के कौवों को भी दुनिया देखनी होती है
 सब के बस का नहीं है कलाप जाकर कलपना
 जीते जी कलाप-किया मर गये तो कपाल-क्रिया करता है
 एक सवा हाथ का बांगरी ब्राह्मण
 जो देह में होते हुए भी विदेह दिखता है
 इस तरह होता है कठिन कलाप में क्रिया-कलाप
 कलाप में होने के लिए कपाल में लिखा होगा तो
 कलाप में पैदा होना पड़ता है
 कपाल से जाने के लिए भी कलाप में पैदा होना पड़ता है।

छंद से उतरी हुई लिंक रोड

चार दिशाओं में चार जंगल
 जो पुलिस छावनी की तरह घेरे हुए हैं गांव की गरीबी को
 सौन्दर्य दृष्टि से देखें तो गरीबी का प्रदूषण बसंत के घेरे में
 इस गाँव में सौ बच्चों के साथ दो सौ वे लोग भी रहते हैं
 जिन्हें हड्डियों की टी.बी. है और जो उन्हें पालते हैं डेढ़ सौ पशुओं के साथ
 सौ बच्चों के साथ डेढ़ सौ पशु या डेढ़ सौ पशुओं के साथ सौ बच्चे
 जो दो सौ लोग खुद वहाँ रहते हैं तीन सौ साल के अनुसार
 उन्हें सभ्यता ने बनाया नहीं सिर्फ खोजा है
 जब पिछड़ापन दूढ़ा जा रहा था तीन सौ खंडहरों के बीच आबाद प्रवास घरों में
 कठिनाइयों का वास्ता दिये बिना दो सौ लोग सच्चे मन से अनजान थे
 तब कौन सा एक रास्ता कहाँ जाते हुए भला यहाँ आ सकता था
 अवश्य वहाँ मुश्किल से आजादी के छप्पन साल बाद एक स्वास्थ्य शिविर
 लगाया जा सका
 मगर टीम के सदस्य एक रात में ही अबूझ बुखार के शिकार हो गये
 पता पड़ा कि गांव का सारा देश ही बीमार है

सरगम के सुरसाधे

जो अपने अल्प पोषण से कुपोषण का शिकार बना हुआ है
जंगल, साफ हवा और स्वच्छ दिखते पानी के बावजूद

अलावा भी समस्या थी बहुत सारी
वे दो सो लोग जिन पर छोटों को पालने की जिम्मेदारी थी
वे जंगल में जा छिपे और खबर बन गये कि अपराधियों की तरह
उन्हें पकड़ कर अस्पताल लाया गया

उन पर जंगली होने के ताने कसे गये
और कहा गया कि तुम्हें गोली से ठीक करेंगे
खिल्ली उड़ायी गयी की सुई लगाये जाने के डर से
कुछ तो रास्ते में ही चल बसे

सत्य और तथ्य के यथार्थ में रोज हो रहे सूर्योदय के बावजूद
जो किरण वहां नहीं पहुंची उसका आग्रह है कि सड़क पहले चाहिए
वहां की लिंक रोड महज इसलिए नहीं बन सकी
क्योंकि एक ओर से छप्पन पेड़ कटने में आ रहे थे
दूसरी ओर से बयासी
तीसरी ओर से बहत्तर और चौथी ओर से छयासी

यानी उस गांव को सड़क से जोड़ने में कम से कम छप्पन
और ज्यादा से ज्यादा छयासी पेड़ कटने में आ रहे थे

निरे पर्यावरण वादियों को रात में धरती का रोना सुनायी दिया
दिन में हिमालय का
एक एन.जी.ओ. को उत्तरकाशी के वरुणावर्त जैसा भूक्षरण दिखायी दिया
किसी को नहीं दिखे मरते हुए तीन सौ लोक
या डेढ़ सौ पशुओं सहित साढ़े चार सौ पशु

अगर पर्यायवरणी और सरकार मान जाये
तो इस लिंक रोड का छंद कुछ बनता है
सड़क बन जाने दो पर्यायवरणी जी सड़क बन जाने दो
गांव वालों के सिर पर भी गमले रखकर चाहे एक-एक पेड़ लगा दो
पर सड़क बन जाने दो सरकार सड़क बन जाने दो
इस शर्त के साथ कि उस पर वे दस-दस पेड़ भी लगावेंगे

मान जाइए जस का तस यह जीवन कतई सुन्दर नहीं है
वरना लोगों के और सुंदर जीवन के सपने खत्म हो जायेंगे।

आखिरकार एक दिन

दो डेग आगा बढ़ता हूं
डग-मग शिला पर रखता हूं दोनों पैर
यह संतुलित हो तो समझूं संतुलित हुआ मैं
टब्बे जैसी इस विशाल डग-मग डंगरी पर चढ़ा
पसंगे की तरह
पैर तौल थोड़ा खड़ा हो पाया था कि लगा गिरने वाला हूं
दुनियादारी के मोड़ पर धड़ाम
किसी तरह मुझे खड़ा देख
आलोड़ित आकाश की खुशी और विपत्ति ने
आलिंगन में ले लिया जैसे मौत से हाथ मिलाया हो
और किसी ने भी हाथ अभी छोड़ा न हो
हो सकता है कल एक मन-गढ़ंत पेड़ सा
मैं जमा हुआ दिखूं
शिला और आकाश को मक्खन रोटी की तरह खाता हुआ
शायद परिस्थिति इतनी ही गतिशील निर्णय
ले पाये मेरे बारे में
अपनी जिद में जमकर उगूं
और अड़ा न दिखकर खड़ा भी दिखूं मैं
रोज कुछ बड़ा होता हुआ
कल्ले पूटें, बल्ले-बल्ले चिड़ियां आयें
और शिला भी जमीन हो जाये आखिरकार एक दिन।

परिचय : लीलाधर जगूड़ी का जन्म 1 जुलाई, 1940 को धंगड़, टिहरी-गढ़वाल, जिला-उत्तराखंड में हुआ।

प्रमुख कृतियां : शंखमुखी शखरों पर (1964), नाटक जारी है (1972), इस यात्रा में (1974), रात अभी मौजूद है (1996), बची हुई पृथ्वी (1977), घबराये हुए शब्द (1981), जितने लोग उतने प्रेम (व्यास सम्मान, 2018), अनुभव के आकाश में चांद (साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1997), ईश्वर की अध्यक्षता, खबर का मुख विज्ञापन से ढका है।

प्रमुख सम्मान : पद्मश्री सम्मान, 2004, व्यास सम्मान, 2018, रघुवर सहाय सम्मान, आकाशवाणी पुरस्कार।

संपर्क : 83848 56576

मुक्तांचल जुलाई-सितंबर 2022

केदारनाथ सिंह का 'दूसरा घर' कवि से एक मुकम्मल भेंट

डॉ. सुलोचना दास

एक कवि को जानने के लिए पहले उसके व्यक्तित्व को जानना, उससे रू-ब-रू होना आवश्यक है। चकिया, बलिया जिला के अन्तर्गत आने वाला एक छोटा-सा गांव है, जो कि गंगा और सरयू को जोड़ने वाली एक क्षेत्रीय नदी भांगड़ नाला के किनारे बसा हुआ है। इस छोटे-से गांव के एक सामान्य किसान परिवार डोमा सिंह के घर में 19 नवंबर 1934 को एक ओजस्वी शिशु का आविर्भाव होता है। माता-पिता बड़े प्रेम से अपने बालक का नाम केदारनाथ रखते हैं। प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत केदारनाथ स्कूली शिक्षा हेतु बनारस आ गए। यहां से उनके जीवन का एक नया अध्याय शुरू होता है- साहित्यिक जीवन का। यानी, चकिया उनका जन्म-स्थल है तो बनारस साहित्यिक जीवन का उद्गम स्थल और दिल्ली कर्म-स्थल।

केदारनाथ सिंह का 'दूसरा घर' सुनाम और सुपरिचित युवा आलोचक मृत्युंजय पांडेय की सद्यः प्रकाशित आलोचना पुस्तक है। हालांकि इससे पूर्व भी केदारनाथ सिंह पर बहुत से कार्य हुए हैं, किंतु उनके गद्य को प्रायः अनदेखा कर दिया गया। यह पुस्तक इस अर्थ में भी महत्वपूर्ण है कि इसमें पहली बार केदारनाथ सिंह के आलोचक व्यक्तित्व की गहराई से जांच-पड़ताल की गई है। दूसरे यह पुस्तक महज एक पुस्तक नहीं, बल्कि एक सेतु है सहृदय पाठक और केदारनाथ सिंह के बीच।

दरअसल 'केदारनाथ सिंह का दूसरा घर' में प्रवेश करने के उपरांत केदारनाथ सिंह के बहुविध रूपों से हमारी मुलाकात होती है। तेरह अध्यायों के अन्तर्गत आलोचक मृत्युंजय पांडेय ने केदारनाथ सिंह के तेरह रूप हमारे सामने रखे हैं। 'बाघ से भेंट' अध्याय वस्तुतः संस्मरण है, जिसमें खूंखार और हिंसक बाघ से नहीं, बल्कि कविता के बाघ से- 'खरगोश की तरह मुलायम जिन्दा 'बाघ' से, हंसते-बोलते, मुस्कुराते बाघ से, खाते-पीते 'बाघ' से हमारी भेंट होती है। इसमें केदारनाथ सिंह के कवि व्यक्तित्व की गहन शिनाख्त की गई है।

मृत्युंजय पाण्डेय को केदार जी के व्यक्तित्व में एक शिशु के दर्शन होते हैं- जिज्ञासु शिशु के। स्वयं आलोचक के शब्दों में- केदार जी सबसे सहज बच्चों से संवाद करते हुए दिखे मुझे। वे बच्चों से ज्यादा खुलते थे और शायद जल्दी घुल भी जाते थे। उनके अंदर एक शिशु हमेशा विद्यमान रहा। जिज्ञासु शिशु। वे अपनी कविताओं की तरह इशारों में ज्यादा बातें करते थे। उनकी कविताओं में जगह-जगह इशारे भरे परे हैं। वे खुलकर नहीं बोलते। वे हमेशा दूसरों की बातों का जवाब देने से बचते रहे। वे सामने वाले की सुनते थे और

अपनी कहते थे।'

बहरहाल ऐसे बहुत से प्रसंग इस अध्याय में बिखरे पड़े हैं, जिनके द्वारा हम-आप कविता के 'बाघ' को कहीं बेहतर ढंग से देख-समझ सकते हैं। यह 'बाघ' प्रकृति के संसर्ग में आकर अधिक उन्मुक्त हो उठता है। 'मानो 'बाघ' प्रकृति के साहचर्य में आकर अपने को मुक्त पा रहा हो। प्रकृति की वजह से ही उन्हें जे.एन.यू. भाता था। प्रकृति की गोद में जाकर उन्हें ऐसा लगता था, वह अपने गांव में हों। प्रकृति के साथ ताक-झांक करना उन्हें बहुत पसंद था। उनका मानना था- 'मनुष्य के पास अपनी संवेदना को जिन्दा रखने के लिए प्रकृति से बड़ा आधार और कोई नहीं है।' वे प्रकृति के साथ सहगमन करते थे।'

केदारनाथ सिंह की चेतना में मामूली आदमी और उनका जीवन गहराई से धंसा हुआ है। ये मामूली लोग-बाग और उनकी पीड़ाएं, उनकी चिंताएं, उनका स्वप्न, उनकी आकांक्षाएं, उनकी समस्याएं, उनका जुझारूपन सब उन्हें बेचैन करते रहते हैं। गांव और गांव के लोगों से संबंधित घटनाएं मामूली होते हुए भी कवि के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं, जो उन्हें भीतर तक मथ देती हैं। जब कभी कवि अपनी बेचैनी को शब्दों का जामा पहनाकर उसे कविता के कलेवर में पूरी तरह से ढाल पाने में स्वयं को असमर्थ पाता है तब वह गद्य का सहारा लेता है। 'कविता का गद्य : गद्य की कविता' अध्याय कवि की इसी बेचैनी की छान-बीन है। बकौल आलोचक 'गांव में घटने वाली छोटी-से-छोटी घटना की भी उन्हें खबर रहती थी। पर वह घटना उनके लिए मामूली नहीं होती थी। वह उन्हें भीतर तक मथ देती थी। 'कब्रिस्तान में पंचायत' पुस्तक में इस मथ से जन्मे कई ऐसे छोटे-छोटे संस्मरण / प्रसंग हैं जो हमें (पाठक) मथ डालते हैं। संस्मरण

से पहले केदार जी ने इन पर कविताएं लिखी हैं। लेकिन ये मामूली लोग कविता में अंट नहीं पाए। कविता उनके व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं कर पाई और तब कवि को उनपर संस्मरण लिखना पड़ा। 'जगरनाथ', 'भिखारी ठाकुर', 'देवेन्द्र कुमार उर्फ बंगालीजी', 'इब्रहिम मियाँ', 'कैलाशपति निषाद' और 'नूर मियाँ' आदि लोगों को मुक्ति नहीं मिल पाई थी। और शायद उनपर लिखी कविताओं को भी मुक्ति नहीं मिली थी।'

इस अध्याय के अन्तर्गत मूल रूप से केदारजी के संस्मरणों पर बात की गई है, परंतु गाहे-ब-गाहे वर्तमान जीवन, समय और समाज की समस्याओं से भी आलोचक मुठभेड़ करते हुए चलता है। जैसे- आज की शिक्षा-व्यवस्था, जो हमें जोड़ने से अधिक तोड़ने का कार्य करती है, अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा-व्यवस्था का प्रभाव, उदारीकरण से जन्मी मुश्किलें, भाषा का प्रश्न, बाजारवाद का कुचक्र, पर्यावरण की चिंता, विस्थापन का दंश, राजनीतिक छल-छद्म आदि-आदि। आलोचक का मानना है कि इन प्रश्नों पर स्वच्छंद विचार की आवश्यकता है। साथ ही साथ इस अध्याय में केदारनाथ सिंह की दलित-चेतना को भी रेखांकित किया गया है। आलोचक का कहना है कि 'यदि कोई चाहे तो इन रचनाओं के आधार पर कवि केदारनाथ सिंह की दलित-चेतना को भी जान-समझ सकता है। मूल्यांकन कर सकता है। हाँ, यह अलग बात है कि केदार जी न तो दलित-दलित चिल्लाते हैं और न ही दलित-कार्ड खेलते हैं। उन्होंने जितना मान-सम्मान दलितों को दिया, शायद ही किसी और ने दिया हो! इस शायद में दलित लेखक भी शामिल हैं।'

'बीच में नहीं आई दिल्ली' अध्याय में कवि की लोक-चेतना का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है। लोक-चेतना के संवाहक केदारनाथ सिंह

की न केवल कविताओं में, वरन उनके गद्य में भी लोक की सदा उपस्थिति रही है। 'कब्रिस्तान में पंचायत' पुस्तक के केंद्र में लोक की सत्ता है, जहां केदारजी आधुनिक जीवन के सामने ठेठ गँवई जीवन को रखते हैं। वे केंद्र में रहकर भी हाशिए को देखते हैं। उस पर सोचते हैं और अपनी कलम चलाते हैं। हाशिए को देखते वक्त केदारजी को अर्जुन की भांति केवल मछली की आँख नहीं दिखती, बल्कि अरुण कमल की 'पुतली में संसार' की भांति हाशिए का पूरा संसार, उसका यथार्थ, उसका परिवेश सब कुछ दिखता है। आलोचक का मानना है कि 'इस हाशिए के लिए केदार जी के मन में भावुकता नहीं है। केंद्र और हाशिया दो बिंदु हैं, और इन बिंदुओं को मिलाने का कार्य केदार जी करते हैं। जो चीज कविता में नहीं समा पाई, उसके लिए केदार जी ने गद्य का सहारा लिया। इन सारे निबंधों में एक और चीज देखने को मिलती है और वह है परंपरा-संस्कृति और आधुनिकता का द्वंद्व। मन में एक प्रश्न उठ रहा है, क्या केदार जी के गद्य को लोक के लोप की कहानी माना जा सकता है? मुझे लगता है- हाँ! आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता, वैश्वकरण या उदारीकरण के आगमन के बाद जिन-जिन चीजों के अस्तित्व पर उन्हें खतरा दिखा, उस पर उन्होंने लिखा। विस्मरण के इस दौर में केदार जी हमें कुछ चीजों का स्मरण करा रहे हैं। वे इस काम को किसी और के भरोसे न छोड़कर खुद करते हैं। वे चाहते हैं कि इसमें से जितनी चीजें बच सकें, आने वाले समय के लिए, पीढ़ी के लिए हमें बचा कर रखना चाहिए।'

तुन्हें भी याद हैं कुछ ये कलाम!' अध्याय में त्रिलोचन, नामवर सिंह, अज्ञेय, श्रीकांत वर्मा और सोमदत्त जैसे सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों पर केदारनाथ सिंह द्वारा लिखे गये संस्मरणों की

गहन पड़ताल की गई है। बकौल आलोचक 'त्रिलोचन, नामवर सिंह, अज्ञेय, श्रीकांत वर्मा और सोमदत्त इनकी स्मृति की अलगनी पर टँगे रह गए हैं। केदार जी ने साहित्य जगत के बहुत कम लोगों पर संस्मरण लिखा है। पर यह 'बहुत कम' 'बहुत भारी' है। ठीक मधुमक्खी के छत्ते की तरह। जिस तरह मधुमक्खी के छत्ते को देखकर उसके भीतर के रस का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता, उसी तरह बाहर से केदार जी के गद्य के बारे में कुछ भी अनुमान लगाना ठीक नहीं होगा। केदार जी के ये संस्मरण मधुमक्खी के छत्ते की रस की तरह सराबोर हैं। इस रस को चखते ही मन एकदम तरोताजा हो जाता है।'

त्रिलोचन तो कवि केदार के काव्य-गुरु ही हैं। कवि के लिए गुरु सशरीर अनुपस्थित होकर भी सर्वत्र उपस्थित रहते हैं। स्वयं कवि की स्वीकारोक्ति का अंश द्रष्टव्य है 'त्रिलोचन जी से मैंने सीखा है और जो सच है उसे कहने में कोई चीज आड़े नहीं आनी चाहिए। अपने को गलत समझ लिए जाने का खतरा भी नहीं। तो मैंने त्रिलोचन जी को सदा इसी रूप में याद किया है कि मैंने बहुत कुछ सीखा है उनसे। खास तौर पर जब मेरे भीतर काव्य की चेतना अभी जगी नहीं थी। मेरा सौभाग्य था कि उनसे संपर्क हो गया था। भाषा की चेतना, यहां तक कि निराला जी की ओर उन्मुख करने का काम त्रिलोचन जी ने ही किया था। कविता को अपने उस अचेत दिनों में मैं समझ न पाता, अगर त्रिलोचन जी न मिले होते। उस ऋण को अस्वीकार करके मैं बाकी दुनिया को धोखे में रख सकता हूँ, अपने को कैसे रखूंगा।'

नामवर सिंह केदारनाथ सिंह के मित्र और गुरु दोनों हैं। नामवर सिंह एक ऐसे आलोचक हैं जो सदैव विवादों से घिरे रहें। ऐसे व्यक्ति पर

कलम चलाना सचमुच बड़ा कार्य है। इस कार्य को केदारनाथ सिंह बड़ी कुशलता से करते हैं।

इस पुस्तक में आलोचक मृत्युंजय पांडेय ने केदारनाथ सिंह के आलोचना-कर्म के परतों को खोलकर रख दिया है, ताकि पाठक वर्ग केदारजी के भीतर छिपे आलोचक से भी मिल सकें। मृत्युंजय के अनुसार 'केदारनाथ सिंह एक बड़े कवि के साथ-साथ एक अच्छे काव्य-आलोचक भी हैं। उनके लिए कविता से लगाव 'जीवन और यथार्थ से लगाव' है।... काव्य-आलोचना करते समय केदार जी नयी भाषा, नयी प्रवृत्ति और नए अंदाज पर विशेष बल देते हैं। कविता को देखने की जो एक परंपरा और संस्कार आलोचकों द्वारा विकसित की गई है, उससे इतर हटकर वे कविता को देखते-परखते हैं।'

इतना ही नहीं, मृत्युंजय पांडेय ने केदार जी को उत्कृष्ट आलोचक और दृष्टि संपन्न इतिहासकार तक कहने का साहस दिखाया है। आलोचक ने दो टुक शब्दों में कह दिया है कि केदार जी जितने बड़े कवि हैं, उतने ही बड़े और मर्मभेदी आलोचक भी हैं। एक कवि हृदय जब आलोचना की पगडंडियों पर चलता है तब उससे उपजी आलोचना केवल बुद्धि का विलास नहीं होती, वरन् उसमें हृदय का भी योग रहता है। मृत्युंजय लिखते हैं 'केदारनाथ सिंह काव्य-आलोचना करते समय अपने समय के कवियों से टकराते हैं। उनके शब्दों से जूझते हैं। उससे लड़ते हैं और उससे अपने लिए भी बहुत कुछ अर्जित करते हैं। वे जिस तरीके से कविता की दुनिया में प्रवेश करते हैं, उससे टकराते हैं, वह काबिले तारीफ है। वे आलोचना के मानदंडों को अस्वीकार करते हुए, उसकी सीमाओं को तोड़ते हुए, एक सार्थक बहस के लिए आमंत्रित करते हैं। केदार जी ने जिन कवियों को अपनी टिप्पणी

के लिए चुना है, उन पर उन्होंने एक नई दृष्टि से लिखा है। वे सीधे कवि की अनुभूति से जुड़ते हैं। कई जगह तो नामवर सिंह भी उन्हें कोट करते हैं। केदार जी की काव्य-आलोचना में सभ्यता-समीक्षा के भी निशान मौजूद हैं। यदि यह कहा जाए कि कविता के मूल्यांकन के लिए केदारनाथ सिंह अपने प्रतिमान बनाते हैं तो कुछ अतिशयोक्ति न होगी। वे स्थिर और जड़ मान्यताओं को एक सिरे से खारिज करते हैं। मुझे लगता है कि केदारनाथ सिंह के ये प्रतिमान हिंदी काव्य-आलोचना के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे। इसे आधार बनाकर इन कवियों को फिर से देखा-परखा जाना चाहिए।'

केदारनाथ सिंह आधुनिक हैं, किंतु उन्होंने पश्चिमी आधुनिकता के मानदंडों को कतई स्वीकार नहीं किया। उनकी आधुनिकता समय और संघर्ष से जन्मी आधुनिकता है। इसी तरह उनकी दृष्टि में भारतीयता एक गतिशील प्रक्रिया है, कोई बनी बनायी स्थिर चीज नहीं। केदार जी की आधुनिकता और भारतीयता को स्पष्ट करने के क्रम में आलोचक ने दक्षिण भारत के उन तमाम कवियों के रचनाकर्म को भी प्रस्तुत किया है, जिन पर केदारजी ने टिप्पणी की है।

केदारनाथ सिंह के भीतर के आलोचक की पारदर्शी दृष्टि से भारतीय क्या पाश्चात्य रचनाकार भी ओझल नहीं हो पाए हैं। वैश्विक कवि और उनकी कविता का जैसा सुंदर ग्राफ केदारजी के यहां देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विद्यार्थी जीवन से ही उन्हें जॉन मिल्टन की कविताएं बेहद प्रभावित करने लगी थीं। इसके बाद वे पाब्लो नेरूदा, पॉल एलुआर, बोर्खेज, बॉद्लेयर, डिलन टॉमस, एलियट, लार्किन, टेड ह्यूज, सीमस हीनी, ब्रेख्त, एजरा पाउण्ड, रेनर मारिया, रिल्के, रेने शा, पुश्किन, यवोनी एव्दुशेंको,

ब्लादीमिर, मायकोवस्की, तोगे संकिची प्रभृति कवियों से भी जुड़ते चले गए। केदारजी एक ओर इन सभी पाश्चात्य कवियों पर स्वतंत्र रूप से चिन्तन-मनन करते हैं तो दूसरी ओर उनसे बहुत कुछ ग्रहण करते हुए भी चलते हैं।

‘आलोचना के दरवाजे पर दस्तक’ अध्याय केदारनाथ सिंह के लघु-शोध-प्रबंध ‘कल्पना और छायावाद’ (1957) पर केंद्रित है। इस शोध प्रबंध में केदारजी कल्पना का अत्यंत उन्नत और गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। साथ ही, कल्पना और छायावाद के अंतर्संबंधों पर भी अपनी पैनी दृष्टि डालने से नहीं चुकते। केदारजी की स्पष्ट मान्यता है कि ‘कल्पना जहां वस्तुजगत का आश्रय लेकर उड़ाने भरती है वहां छायावाद और ‘शुद्ध अंतर्दृष्टि’ के द्वारा निर्मित भावलोक में संचार करती है वहां रहस्यवाद।’ दूसरी ओर आलोचक ने केदारनाथ सिंह के पी.एच.डी. के शोध-प्रबंध ‘आधुनिक हिंदी कविता में बिंब-विधान’ को भी गहन अंतर्दृष्टि के साथ विश्लेषित किया है। यहां बिंब की अर्थवत्ता, उसकी प्रकृति, उसका स्वरूप, पाश्चात्य कवियों के यहां बिंब का स्थान, हिंदी कविता में बिंब इत्यादि विषयों की गहन चर्चा की गई है। सच कहा जाए तो आलोचक ने इन अध्यायों में केदारजी के शोध-प्रबंधों की बड़ी उन्नत व्याख्या की है। साथ ही, पाठकों को उसे पढ़ने के लिए प्रेरित भी किया है।

एक व्यक्ति कवि या आलोचक या कहानीकार होने से पहले एक मनुष्य होता है। एक सामाजिक प्राणी होता है। अतएव उसके कवि, आलोचक आदि रूपों की पड़ताल करने से पहले उसके उस मनुष्य रूप को जानना आवश्यक है। ‘मार्क्सवाद, आध्यात्मिकता और दिल्ली’ अध्याय के अन्तर्गत आलोचक ने केदारनाथ सिंह के भीतर के मानुष को- सरल, सहज, गँवई मानुष

को पहचानने का प्रयास किया है। इसके लिए मृत्युंजय केदारनाथ सिंह द्वारा कैलाशपति निषाद को लिखे गए पत्रों का सहारा लेते हैं। ‘कैलाशपति निषाद पडरौना और दिल्ली के बीच एक मजबूत धागा थे। एक पुल थे। जिसके सहारे केदार जी आजीवन पडरौना से जुड़े रहे। वहां के लोगों से मिलते रहे। वहां के परिवेश, वहां की समस्या से दो-चार होते रहे। सन 2004 में निषाद जी की मृत्यु के बाद पडरौना और दिल्ली के बीच का वह धागा, वह पुल टूट गया। पुल के टूटने का दर्द क्या होता है यह तो कोई सहृदय व्यक्ति ही जान सकता है। वही उस धागे के महत्त्व को समझ सकता है। केदार जी को जोड़ने वाली हर एक चीज पसंद थी। पुल, नाव, धागा और चिट्ठी जोड़ने का ही काम करती हैं। केदारनाथ सिंह ने कैलाशपति निषाद को हर जगह ‘प्रिय निषाद जी’ या ‘निषाद जी’ संबोधन से ही संबोधित किया है। यह छोटी चीज बड़े मन का संकेत दे रही है। आजकल के लेखकों में यह बड़प्पन देखने को बहुत कम ही मिलता है। यानी, एक अच्छे लेखक की रचना हमारे इतिहास-बोध को जगाने के साथ-साथ बड़प्पन भी सिखाती है।’ आलोचक को इस बात का दुःख भी है कि उसके समक्ष केवल केदारनाथ सिंह द्वारा लिखे गए पत्र ही हैं। कैलाशपति निषाद द्वारा लिखे पत्रों से वह अनभिज्ञ है। बावजूद इसके, इस अध्याय को पढ़ते हुए पाठक-मन उन पत्रों को जानने के लिए भी लालायित हो उठता है जो निषाद जी ने लिखे थे। ऐसे में पाठक मृत्युंजय से यह उम्मीद लगा बैठते हैं कि वे उन्हें शीघ्र ही उन पत्रों से भी मुखातिब करेंगे।

बहरहाल, हम आगे चलें। केदारनाथ सिंह भी नागार्जुन की भंति ही आम आदमी के प्रति प्रतिबद्ध हैं। केदारजी के अनुसार ‘एक भारतीय

लेखक की प्रतिबद्धता भारतीय जन की मुक्ति के लिए होनेवाले संघर्षों में ही अपना आकार खोज सकती है। यह तीसरी दुनिया के लेखक की एक ऐसी नियति है, जिससे आँख बचाकर वह नहीं निकल सकता।' इस अध्याय में केदारजी की राजनीतिक चेतना को भी आलोचक ने स्पष्ट कर दिया है- 'हिंसा के विरुद्ध व्यापक जनमत तैयार करने की सामर्थ्य आज न तो किसी राष्ट्रीय नेता में है और न ही राष्ट्रीय दल में। आजादी से पहले हिंसा और राजनीति का वैसा गहरा रिश्ता नहीं था। आज वह रिश्ता लगभग संस्थाबद्ध रूप ले चुका है। इसका सबसे दुष्परिणाम यह है कि सामान्य जन इस गिरोह को अपनी आँखों के सामने और उसे एक जानी-पहचानी वास्तविकता मानकर स्वीकार कर लेता है। यह एक चिंताजनक स्थिति है।'

केदारनाथ सिंह की प्रतिबद्धता के संदर्भ में आलोचक ने उनकी भाषा के प्रति प्रतिबद्धता को भी अनदेखा नहीं किया है। इस प्रसंग में केदारजी की एक कविता का अंश द्रष्टव्य है- 'हिंदी मेरा देश है/ भोजपुरी मेरा घर/ घर से निकलता हूँ/ तो चला जाता हूँ देश में/ देश से छुट्टी मिलती है/ तो लौट आता हूँ घर में/ इस आवाजाही में/ कई बार घर में चला आता है देश/ देश में कई बार/ छूट जाता है घर/ मैं दोनों को प्यार करता हूँ/ और देखिए न मेरी मुश्किल/ पिछले साठ बरसों से/ दोनों को दोनों में/ खोज रहा हूँ। दरअसल केदारनाथ सिंह एक प्रतिबद्ध रचनाकार हैं। उनकी प्रतिबद्धता उस मनुष्य के प्रति है जो 'जनतंत्र' के 'तंत्र' का

शिकार है। साथ ही, वे अपनी भाषा- अपनी हिंदी के प्रति भी प्रतिबद्ध हैं। भले ही वे भोजपुरी से प्रेम करते हों, परंतु जब भाषा की बात आती है तब वे हिंदी को ही चुनते हैं।

'प्रेमचंद और केदारनाथ सिंह' सुनकर बड़ा अटपटा-सा लगता है। एक ओर केदारनाथ सिंह का जन्म ही 1934 में हो रहा है और दूसरी ओर प्रेमचंद 1936 में सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे में भला इन दोनों में क्या समानता हो सकती है? यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि एक रचनाकार की मृत्यु कभी नहीं होती है। वह सदा अपनी रचनाओं में जीता रहता है। प्रेमचंद और केदारनाथ सिंह दोनों ही कालजयी रचनाकार हैं। दोनों के ही मर्म लगभग एक हैं। दोनों की रचनाओं में ग्रामीण जीवनानुभव बिखरे पड़े हैं। और सबसे बड़ी चीज कि दोनों ने ही उस आम जन की पीड़ा को स्वर दिया है, जिसकी जिजीविषा को न तो पूस की रात की हांड कंपा देने वाली ठंड परास्त कर पायी और न हिमालय गला पाया। प्रेमचंद और केदारनाथ सिंह के मध्य के ऐसे बहुत से बिंदुओं को आलोचक ने इस अध्याय में बखूबी उजागर किया है।

सच कहा जाय तो यह पुस्तक एक ओर केदारनाथ सिंह के असाधारण गद्य के असाधारण सौन्दर्य को उजागर करता है तो दूसरी ओर 'हिंदी कविता के रिल्के' को जानने, उससे मिलने और उसकी कविताओं के घर में प्रवेश करने की चाभी भी देता है। और सच मानिए, एक बार यदि उस घर में प्रवेश कर लिया जाय तो फिर वहां से लौट आने का मन ही नहीं करता।

पुस्तक का नाम : केदारनाथ सिंह का दूसरा घर,
लेखक : मृत्युंजय पाण्डेय
प्रकाशक : आनन्द प्रकाशन,
मूल्य : 495/-

समीक्षक : सुलोचना दास
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग,
परिमल मित्र स्मृति महाविद्यालय,
मालबाजार, जलपाईगुड़ी,
संपर्क : 97493-91715

कविता में 'उम्मीद चिनगारी की तरह'

जितेन्द्र कुमार

कौशल किशोर अपने तीसरे कविता-संग्रह 'उम्मीद चिनगारी की तरह' की भूमिका में (इस समय में) अपने समकाल की शिनाख्त इस प्रकार करते हैं- 'यह ऐसा समय है जब नकारात्मक राजनीति हावी है।' इसमें दो राय नहीं है कि भारतीय सत्ता पर पूँजीपति वर्गों ने अपनी पकड़ मजबूत बना ली है। नयी सत्ता ने भारतीय संविधान के आदर्श समाजवाद को तिलांजलि दे दी है। कवि कौशल किशोर लिखते हैं कि 'रचनाकार जिस समय में होता है, जीता है उससे उसका भावनात्मक रिश्ता बनता है जो उसके सृजन का कारण बनता है। वह अपने समय को रचता है और साथ ही समय भी उसे गढ़ता-बनाता है।' कोरोना-काल में कौशल किशोर और उनकी कवयित्री पत्नी विमल किशोर जी कोरोना संक्रमित हो गये थे। पति पत्नी उस भयावह संक्रमण से लड़कर निकल आए। उसका मर्मस्पर्शी चित्रण 'नीम बेहोशी में एक स्वप्न' कविता में करते हैं - 'मैं तनाव में हूँ और बेचैन हूँ।.....धड़कन बढ़ गयी है। चलता हूँ तो हाँफने लगता हूँ। सीढ़ियाँ चढ़ना दूभर हो गया है। पर चलना ही है। चलते ही रहना है। चलते रहना ही जीवन है।' कवि की यही जीवन-दृष्टि उत्प्रेरक है कि चलना ही जीवन है। जीवन विरोधी समय में भी चलना है। यही वह जीवन मूल्य है जो कौशल किशोर की कविताई को सार्थकता प्रदान करता है। वे लिखना चाहते हैं, लिख नहीं पाते हैं। वे पढ़ नहीं पा रहे हैं। वे मस्तिष्क को सक्रिय करते हैं। उनका संकल्प विजयी होता है। उनकी जिजीविषा विजयी होती है। उनकी कविता में संघर्ष चेतना की तरंग प्रवाहित है जो हर उत्पीड़ित को अनुप्राणित करती है।

जैसा कि कवि ने अपने समय की पहचान की है, 1947 की आजादी के बाद आम आदमी का स्वप्न था - शिक्षा-दीक्षा, ज्ञान-विज्ञान, समाजवाद, रोजगार, सामाजिक बराबरी, न्याय, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विश्वास की स्वतंत्रता। आम आदमी ने नयी रोशनी चाही थी। स्वतंत्रता आंदोलन में वे उजाले के सिपाही थे। 2014 में राजनीतिक परिदृश्य बदल गया। पहले भी धुँध था, धुआँ था, अँधेरा था। पर जनतांत्रिक आंदोलन के लिए स्पेस था। अब नये परिदृश्य में जनतांत्रिक आंदोलन का स्पेस खत्म हो गया। कौशल किशोर समकालीन परिदृश्य को इस प्रकार चित्रित करते हैं: 'धुँध ही धुँध/धुआँ ही धुआँ' है। वे प्रश्नाकुल हैं: 'यह कैसा अँधेरा? कितना घना? जो गा रहे थे। वे अचानक चुप क्यों हो गये?' क्योंकि भय का वातावरण बना दिया गया। जो विरोध में थे, वे तरल होकर बहने लगे। हवा में धमकियाँ सनसनाने लगीं। कुछ लोग अपने ही देश के नागरिकों को देश छोड़कर चले जाने की चुनौतियाँ देने

लगे और उन्हें सत्ता का संरक्षण मिलता रहा है। कवि कौशल किशोर साहित्य का परचम कविता में लहराते हैं :

मैं पुरजोर कहता हूँ
मिलजुल कर बनाया है हमने यह देश
इसकी मिट्टी में हमारे पुरखों की हड्डियाँ गली हैं
हम रहेंगे, यहीं रहेंगे

कौशल किशोर संघर्ष और उम्मीद के कवि हैं। उम्मीद संघर्ष के शज़र पर ही फलती है। संकटकाल में भी वे उम्मीद का दामन थामे रहते हैं। निराशा हमलावर हो गयी है। इसलिए उम्मीद भूमिगत हो गई है।

हाँ, हाँ उम्मीद ही है
जो राख के इस ढेर में
कहीं बहुत गहरे चिनगारी की तरह
अब भी सुलग रही है

पहली कविता 'भेड़िया निकल आया है माँद से' थोड़ी लंबी है। 'भेड़िया' पाशविक शक्तियों का प्रतीक है। 'भेड़िया' अकारण आक्रमकता और दरिंदगी का भी प्रतीक है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की प्रसिद्ध कविता है 'भेड़िया'। वे 'भेड़िया' कविता का स्मरण करते हैं। और इस बुरे वक्त में जनप्रतिरोध का आह्वान करते हैं—

तुम मशाल जलाओ
उसे ऊँचा उठाओ

कविता-संग्रह 'उम्मीद चिनगारी की तरह' में कौशल किशोर की 16 मई, 2014 के बाद लिखी कविताएँ संकलित हैं। इस तिथि का भारत के स्वातंत्र्योत्तर इतिहास में विशेष महत्व है। उसी दिन लोकसभा चुनाव का रिजल्ट घोषित हुआ था और घोर दक्षिणपंथी साम्प्रदायिक शक्तियाँ चुनाव जीत गयी थीं। उसके बाद की घटनाओं, परिघटनाओं, दुर्घटनाओं को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। वह सर्व विदित है। कविता

संकलन दो खण्डों में प्रस्तुत है: (1) भेड़िया निकल आया है माँद से और (2) कोरोना का.... का... रोग। प्रथम खण्ड में 'फासिस्ट', 'गुजरात अक्टूबर 2018', 'गाँधी', 'जीत का नशा', 'किसान मार्च', 'नीम बेहोशी में एक स्वप्न', 'उम्मीद चिनगारी की तरह' आदि उल्लेखनीय कविताएँ संकलित हैं। दूसरे खण्ड में 21 कविताएँ हैं जिनमें 'रोटियाँ उनकी हत्या की गवाही दे रही थीं', 'दौर-ए-मुश्किल', 'कमीज़', 'कविता रहेगी', 'फिलीस्तीन', 'महाप्राण निराला को याद करते हुए' आदि कविताएँ हैं।

संकलन में कौशल किशोर की कविताओं के बारे में प्रसिद्ध कवि व साहित्य चिंतक रामकुमार कृषक, कवि-आलोचक सुशील कुमार, वरिष्ठ कवि व गद्यकार स्वप्निल श्रीवास्तव, युवा प्रखर आलोचक उमाशंकर सिंह परमार, एवं वरिष्ठ कवि, समीक्षक, अनुवादक अजय कुमार के सटीक विश्लेषण हैं। उक्त विश्लेषण कौशल किशोर की कविताओं के महत्व को रेखांकित करते हैं। इससे कवि की काव्य संवेदना को समझने में सामान्य पाठक को मदद मिलती है। कवि की काव्य भाषा के बारे में युवा आलोचक उमाशंकर सिंह परमार लिखते हैं: 'भाषा जहाँ बातचीत के अंदाज में है, वहीं संवेदना आम आदमी की है। यह गुण ऐक्टिविस्ट का है।' 'फासिस्ट' कविता में कौशल किशोर कहते हैं: 'इसलिए फासिस्टों ने तय किया है/कि लोकतंत्र के लोक को भीड़ में बदल दिया जाय/तब इस भीड़ को भेड़ में बदलना होगा आसान/उसे हाँकना होगा और भी आसान।' भारतीय लोक चेतना में अवतारवाद की अवधारणा ज़ज्ब है। इस मिथकीय अवधारणा का साम्प्रदायिक शक्तियाँ सोची समझी रणनीति के तहत खूब इस्तेमाल कर रही हैं। वे चुनाव में जीते राजनेता का महिमामंडन अवतार के रूप में करने लगी

हैं। जनता के मानस में अवतार की अवधारणा बैठ जाए, इसके बाद तो सब चाँदी ही चाँदी है। इसके बाद नेता जो न्याय-अन्याय करें सब प्रभु की लीला है। यह जनतंत्र विरोधी और संविधान विरोधी के अलावा विज्ञान विरोधी भी है। इस खतरनाक प्रवृत्ति की शिनाख्त करते हुए कवि कौशल किशोर कविता लिखते हैं: 'उन्हीं पर टिका है जनतंत्र'। इस कड़ी में 'भेड़िया निकल आया है माँद से', 'झूठ बोलो', 'गोली, गाली और आवाज़', 'गुजरात-अक्टूबर 2018', 'विकास', 'वार्डर पर किसान: तीन कविताएँ' उल्लेखनीय हैं।

दूसरे खण्ड में कोरोना काल और सरकार द्वारा अचानक लॉकडाउन घोषित करने से कामगारों और प्रवासी मजदूरों को अंतहीन कष्ट हुआ। सरकारी मशीनरी ने लाखों मजदूरों का काम छीन लिया और घर लौटने के रास्ते ब्लॉक कर दिया। सैकड़ों प्रवासी मजदूर गाँव लौटने के क्रम में भूख प्यास के शिकार हो गये। इस परिघटना का कौशल किशोर जी ने मर्मस्पर्शी चित्रण किया है—

वे लोग जिनके पास किचेन नहीं था
उनकी आँखों में सुनापन था
वे सर्वहारा थे
.....

वर्षों की मेहनत मजदूरी के बाद भी
उनके पास न घर था, न दुआर
न बसेरा था, न डेरा

.....
कि वे लौट रहे थे वापस
जैसे तुंगलक का कोई अदृश्य फ़रमान हो।
वे सब सड़क पर थे खाली डब्बों की तरह
ढनमनाते
उनके सिर पर गठरी थी
यही जिंदगी भर की जमा पूँजी थी
गोद में भविष्य था।

इन प्रवासी मजदूरों को घर लौटने के क्रम में रास्ते में पुलिस ने पीटा। उन्होंने रास्ता बदलकर रेल की पटरियों पर चलना शुरू किया। रेलगाड़ी ने उन्हें कुचल कर मार डाला। इस कड़ी में 'कोरोना का हमला', 'दौर-ए-मुश्किल', 'क़मीज़', 'निःशब्द हूँ मैं', 'महामारी: कुछ कविताएँ' उल्लेखनीय और पठनीय हैं।

अंत में वरिष्ठ कवि व गद्यकार स्वप्निल श्रीवास्तव के विश्लेषण से कुछ शब्द उद्धृत करते हुए: 'हमारे समय का यथार्थ काफी जटिल और दुस्साहसी है। कौशल किशोर की कविताओं में उन शक्तियों की पहचान है, जो आम आदमी के जीवन को दूँभर बना रही हैं। कौशल किशोर सावधान कवि हैं। उनके पास स्पष्ट वैचारिकी है। यह उन्होंने आंदोलन और अपनी चेतना से हासिल किया है।'

पुस्तक का नाम	:	उम्मीद चिनगारी की तरह (कविता-संग्रह)
कवि	:	कौशल किशोर
प्रकाशक	:	रुद्रादित्य प्रकाशन 109, एच/आर/3-एन, ओ. पी. एस. नगर कालिन्दीपुरम, प्रयागराज-211011
पृष्ठ संख्या	:	144,
मूल्य	:	रुपये 225/-
समीक्षक	:	जितेन्द्र कुमार, आरा - 802301, बिहार।
संपर्क	:	8187937731

आम जन की कहानी है 'आगे से फटा हुआ जूता'

नृपेन्द्र अभिषेक नृप

कहानियों की दुनिया में रामनगीना मौर्य जी का बड़ा नाम है। जिस तरह से देश के प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कहानियां बेहद पसंद की जाती रही है, उसी तरह से श्री मौर्य का नया कहानी संग्रह 'आगे से फटा हुआ जूता' काफी लोकप्रियता बटोर रहा है। सचमुच इसमें उपलब्ध कहानियां एक से बढ़ कर एक हैं और गागर में सागर का काम कर रही हैं। मौर्य जी की कहानियों का प्रवाह आदि से अंत तक पाठक के चित्त को बांधे रखता है। घटनाओं का सजीव चित्रण मन को मोह लेता है। इस संग्रह में मौर्य ने आम जन से जुड़ी हुई कहानियों को बड़े ही सुंदर रूप में पिरोया है। एक छोटी-सी घटना कथात्मक विस्तार लेते हुए अपनी छाप बनाती हुई दिख रही है। कहानियों का परिवेश, उपस्थित परिस्थितियां, सामाजिक सरोकार, यथार्थ का सरल सपाट वर्णन इन कहानियों को महत्वपूर्ण बनाता है।

अगर पुस्तक की कहानियों की बात करें तो पुस्तक की शीर्षक कहानी 'आगे से फटा हुआ जूता' में एक बांसुरी वाले की कहानी लिखी गई है, जो अपने गुरु के जूते के प्रति बेहद श्रद्धा का भाव रखता है। उस जूते को उसने आगे से काट रखा है क्योंकि उसके अंगूठे में फ्रैक्चर है। इस फटे जूते के खो जाने से उस पर जो कुछ बीता, उसका बेहद संवेदनशील वर्णन इस कहानी में है। कहानी की मार्मिकता पुस्तक में चार चांद लगाती है।

अक्सर देखा गया है कि मौर्य जी अपनी कहानियों में परिवार के भीतर और बाहर जूझ रहे व्यक्ति के एहसास, अनुभव, और उसकी उहापोह को बड़ी शिद्दत के साथ रेखांकित करते हैं, तभी तो फटे हुए जूते तक की बात करते हैं। जहाँ अक्सर लेखकों की नज़र नहीं जाती वहाँ तक मौर्य जी की पैनी नज़र चली जाती है।

पुस्तक की पहली कहानी 'ग्राहक देवता' में दुकानदार और ग्राहक की बात कर रहे हैं, जिसमें एक ग्राहक है वो जब भी किसी दुकान पर जाता है तो वहाँ ग्राहकों की भीड़ लग जाती है और खुद उसे अपने सामान खरीदने में घंटों लग जाते हैं। इसमें कहानीकार ने सामान्य-सी घटना को इतनी रोचकता प्रदान की है कि पाठक आद्यांत कथा-रस में डूबा रहता है। घटनाक्रमों के सजीव चित्रण की वजह से कहानीकार प्रतिपल कौतूहल जगाता है तथा सरल-सहज भाषा और शैली कहानियों को यथार्थ के ज्यादा करीब लाती है। अक्सर देखा गया है कि आम जीवन में ऐसे ग्राहकों को काफी सम्मान दिया जाता है जो दुकानदार के लिए 'लकी' साबित होते हैं। इसमें ऐसे ग्राहक की कहानी है जो दुकान पर फल खरीदने गए हुए हैं और यहाँ भी उनके जाते ही ग्राहकों का तांता लग जाता है।

एक और कहानी 'उठ मेरी जान' की कहानी गौरी के इर्द-गिर्द घूमती है। इसमें कहानीकार ने सामाजिक बुराइयों पर भी चोट किया है। कहानी की गौरी परिवार के भीतर और बाहर जूझ रहे व्यक्ति का एहसास कराती है, जिसकी उपस्थिति स्वयं के परिवार में बेगाने की तरह है। लड़कियों के विवाह के बाद मायके वालों का बदला व्यवहार भारतीय समाज में सर्वसामान्य माना जाता रहा है। मायके से डोली का जाना और ससुराल से अर्थी का उठना एक ऐसा मुद्दा है जो सदियों से गंभीरता से हावी है। समाज के ताना-बाना की शिकार गौरी खुद को सामान्य करने के लिए लेखन और संगीत का सहारा लेती है और उसी के सहारे अपने जीवन की नाव को आगे बढ़ाने को प्रयासरत है।

कहानी 'सांझ - सवेरा' में हॉस्पिटल और ऑफिस के बीच से उत्पन्न समस्याओं का जिक्र है, जिसमें अक्सर देखा गया है कि कोई भी इंसान परिवार के समस्याओं और ऑफिस के

किच - किच के बीच फंस जाता है और तब उसके बाद उसे न ऑफिस का बॉस समझता है और न ही घर में रूठ कर बैठी पत्नी समझने को तैयार होती है। तभी तो स्कूटी पर मौन होकर बैठी पत्नी के साथ घर जाते हुए वह बहुत-सी बातें सोचने लगते हैं। पति- पत्नी के बीच के नॉक- झोंक और एक-दूसरे का साथ देने को बहुत सुंदर तरीके से दर्शाया गया है।

मैंने मौर्य जी की जितनी भी कहानियां पढ़ी हैं, उसमें यह सबसे ज्यादा बेहतरीन लगी क्योंकि उन्होंने कहानियों में आम-जन से जुड़े मुद्दों और उससे जुड़े पात्रों को सामने रख कर लिखा है। इस संग्रह की कहानियों में पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करते वक्त लेखक जैसे उसमें समाहित हो जाते हैं। वह पात्रों के कठिन जीवन-संघर्ष को अभिव्यक्त करते हुए बेहद सूक्ष्म-दृष्टि का प्रयोग करते हैं, जिसकी वजह से सामान्य विषय पर केंद्रित दिखने वाली कहानियां भी कई बार समाज के गंभीर मुद्दों को समेट लेती हैं।

पुस्तक का नाम	:	आगे से फटा जूता
लेखक	:	रामनगीना मौर्य
प्रकाशक	:	रश्मि प्रकाशन, लखनऊ
पृष्ठ संख्या	:	132
मूल्य	:	रुपये 220/-
समीक्षक	:	नृपेन्द्र अभिषेक नृप
		संपर्क : 99558 18270

संपर्क : रामनगीना मौर्य - 94506 48701

जब से जुड़ाव है : कटाव

डा. पंकज साहा

समाजसेवी एवं कवि-हृदय श्री रमेश पति आधुनिक ओड़िया साहित्य के जाने-माने हस्ताक्षर हैं। 'कटाव' उनकी 53 कविताओं का संग्रह है, जिसका भाषांतर ओड़िया एवं हिंदी के युवा लेखक एवं हिंदी के प्राध्यापक डा. अमूल्य रत्न महांति ने किया है।

इस संग्रह की तीन बातों ने मुझे विस्मित किया। पहली यह कि इसका कोई भूमिका लेखक नहीं है, दूसरी यह कि इसमें न तो कवि ने, न अनुवादक ने अपनी बात कही है और तीसरी यह कि इसकी शीर्षक कविता 'कटाव' सबसे अंत में रखी गयी है। अमूमन ऐसा होता नहीं है।

संग्रह की कविताओं से गुजरने के बाद एक बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि बिना किसी राजनीतिक विचारधारा के कवि की प्रतिबद्धता उस जन के प्रति है, जिसके संदर्भ में नागार्जुन ने कहा था—

'प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ—

बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त..

संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ..

अविवेकी भीड़ की 'भेड़िया धसान' के खिलाफ..

अंध-बधिर व्यक्तियों को सही राह बतलाने के लिए

अपने आपको व्यामोह से बारंबार उबारने की खातिर

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ।'

संकलन की पहली कविता 'पत्थर की मूरत'

सालूदास नामक एक शोषित-पीड़ित सर्वहारा की व्यथा-कथा है। कहते हैं कि मुसीबत अकेली नहीं आती। गरीब सालूदास पर पहला वज्रपात तब होता है जब उसकी स्कूल जानेवाली बेटी एक छोकरे के साथ भाग जाती है। फिर दवा-दारु के अभाव में उसके बीमार पिता की मौत हो जाती है। रही-सही कसर उसकी पत्नी पूरी कर देती है। भूख सहन न कर पाने के कारण वह सालूदास को उस अवस्था में छोड़कर शहर चली जाती है। उसके बाद से सालूदास मानों पत्थर की मूरत हो जाता है। कवि ने अत्यंत भावुक होकर सालूदास की पीड़ा का वर्णन किया है, जो हमारी कसूर, संवेदना और सहानुभूति को तो गहराता ही है, एक नयी वैचारिक दृष्टि भी देता है—

'तब से लेकर आजतक

उसकी जिंदगी में

हारने का अफसोस नहीं

न जीतने की खुशी है।' (पृ. 8)

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। चुनाव को लोकतंत्र का महापर्व कहा जाता है, परंतु आज हमारे देश में चुनाव प्रहसन बन कर रह गया है। आज आम नागरिक की हैसियत एक वोट से ज्यादा नहीं है। प्लेटो ने कहा था, 'जहाँ मतदाता मूर्ख है, वहाँ उसके प्रतिनिधि धूर्त होंगे।' भले हम इस बात का ढोल पीटें कि 'यह जो पब्लिक है, सब जानती है', लेकिन सच्चाई यह है कि भारत का अधिकांश मतदाता 'वोट' के महत्व को नहीं समझता और वह धूर्त नेताओं के आर्थिक, सांप्रदायिक, जात-बिरादरी वाली जाल में फँसकर उसे जिता तो देता है, परंतु खुद गरीबी, मँहगाई, भूख आदि के अंधकारपूर्ण गर्त में डूबता चला जाता है। सुप्रसिद्ध गजलकार दुष्यंत कुमार ने वोट डालनेवाली जनता की तुलना भीगती हुई उस ईंट से की है, जिसे यह पता नहीं होता कि वह इमारत के किस हिस्से में लगकर इमारत के किस काम आएगी— 'धीरे-धीरे भीग रही हैं सारी ईंट पानी में, इनको क्या मालूम आगे चलकर इनका क्या होगा।'

'अंधेरे आतंक' कविता में रमेश पति वोट देने वाली जनता के संदर्भ में लिखते हैं—

'फटा-पुराना कुर्ता पहने
भूखे पेट में
नये सूर्योदय का इंतजार
करता गरीब
कभी यह समझ नहीं पाता कि
पेट्रोल या डीजल की दर बढ़ने पर
बाजार का भाव कैसे बढ़ रहा है?' (पृ. 9)
परंतु इस कविता में कवि इस बात से आश्वस्त करते हैं कि धूर्त नेता भी एकदिन ठग बगुले के समान किसी केकड़े के चंगुल में पड़कर मृत्यु को प्राप्त होंगे।

नरभक्षी भेड़िये सिर्फ जंगलों में नहीं होते, शहरों में भी होते हैं। कवि ने अपनी 'शव से रति' कविता में शहरी नरभक्षियों की पशुता को बेझिझक चित्रित किया है। शहरी ठेकेदार रूपी नरभक्षी पहाड़ की मासूम लड़की की मजबूरी का फायदा उठाकर उसकी देह को नौच डालता है। उसके सारे सपने को पानी के बुलबुले की तरह नष्ट कर देता है। उस लड़की का कसूर सिर्फ इतना था कि वह अपने मरते हुए पिता को कुछ दिन और जिंदा रखने के लिए एक ठेकेदार की हवस के जाल में फँस जाती है। इस कविता में कवि गाँव की मासूमियत भरी हकीकत और शहर की हविस भरी हकीकत को एक ही फ्रेम में दिखाते हैं।

अनेक कुर्बानियाँ देने के पश्चात हमें अंग्रेजों की गुलामी से आजादी तो मिली, पर यह आजादी नेताओं, मंत्रियों, पूँजीपतियों आदि के निवास में कैद हो गयी है। जनता ने जिनको अपना भाग्यविधाता बनाया, वे मस्त हैं और सारी गरीब जनता परत है।

'दलित जनता के नेता' में कवि प्रश्न करता है—

'भूखे पेट झंडा लिये
स्लोगन दे रही जनता ने कभी सोचा नहीं कि
पाँच साल में नेताओं की दौलत
पाँच गुना कैसे हो जाती है?' (पृ. 22)
इस कविता में धूमिल का वह आक्रोश नहीं है, जो उन्होंने अपनी 'बीस साल बाद' कविता में

'बीस साल बाद
मैं अपने आप से एक सवाल करता हूँ
जानवर बनने के लिए
कितने सब्र की जरूरत होती है?'
यहाँ दलित जनता के सब्र का बाँध टूटा नहीं है, क्योंकि उसकी आँखों में अभी भी सपना

पल रहा है। उसे अभी भी अच्छे दिन आने की उम्मीद है—

‘वह भी सपना देखना जानती है

टूटे-फूटे छप्पर या

घास-फूस की झोपड़ी से

किसी न किसी दिन

चाँद उगने की उम्मीद रखती।’ (पृ. 22)

सत्ताधारी जनता की उदासीनता, यथास्थितिवादी प्रवृत्ति को खूब समझते हैं। इसलिए तो उन्हें नाना सपने दिखाकर अपना उल्लू सीधा करते रहते हैं। उपर्युक्त कविता में कवि जनता की ऐसी ही प्रवृत्ति, जहाँ बदलाव या प्रतिरोध की कोई इच्छा नहीं, पर अप्रत्यक्ष तंज भी करते हैं।

देश की आर्थिक व्यवस्था को खोखला करने का काम पहले भ्रष्टाचार के जिम्मे था, अब वोट के लिए विभिन्न सरकारों की ‘फ्री पॉलिटिक्स’ ने देश की अर्थ-व्यवस्था को और अधिक चरमरा दिया है। दूसरी ओर परिश्रम करनेवाली अनेक जनता अपना काम-धाम छोड़कर मुफ्त का सरकारी अनाज पाने के लिए टकटकी लगाये रहती है। हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था कृषि पर ही निर्भर है। परंतु आज अनेक जगहों में स्थिति यह हो गयी है कि खेतों में काम करने के लिए मजदूर नहीं मिल रहे हैं। खेत परती रह जा रहे हैं।

दूसरी ओर विकास के नाम पर जंगल काटे जा रहे हैं, पहाड़-पर्वत खोदे जा रहे हैं। लोग अपनी जगह से विस्थापित हो रहे हैं। स्थिति भयावह होती जा रही है। देश की इस दुर्दशा से हमारे कवि-लेखक अनभिज्ञ नहीं हैं। वे बदलाव के लिए प्रतिरोध भी करते हैं। उनका प्रतिरोध कहीं धधकती हुई ज्वालामुखी जैसा दिखता है, तो कहीं बर्फ-सा ठंडा। ‘आर्थिक संस्कार’ कविता में कवि के अंदर का विद्रोह इस रूप में प्रकट होता है—

‘चारों तरफ हाहाकार

विद्रोह का मृदु गुंजरण

फिर भी सोये हुए थे राजा।’ (पृ. 24)

कवि यह जरूर कहता है कि अभी विद्रोह का स्वर मृदु है, परंतु स्थिति शीघ्र बदलेगी

क्योंकि

‘संभावना का सूरज देखने

भला कौन कितने दिनों तक

इंतजार करेगा।’ (पृ. 24)

जुड़ाव का उलटा शब्द है कटाव। जिन लोगों का अपनी जमीन, जंगल, पहाड़ से जुड़ाव रहा है वे अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों एवं देशी औद्योगिक कंपनियों की स्वार्थ-लिप्सा का शिकार होकर कटाव का दंश झेल रहे हैं। संग्रह की शीर्षक कविता ‘कटाव’ का मूल भाव यही है। आज सारे विश्व की पूँजीवादी, विस्तारवादी शक्तियाँ अपनी शैतानी चाल से करोड़ों सामान्य जनता को बदहाली के कगार पर ले गयी हैं, लाखों को मौत के मुँह में धकेल चुकी हैं। फिर भी उनकी पिपासा शांत नहीं हो रही है। अपने देश में यही खेल उद्योगपति, ठेकेदार आदि प्रशासन एवं सरकार की मिलीभगत से खेल रहे हैं। यह खेल सामान्य लोगों को नहीं दिख रहा है, परंतु कवि की तीक्ष्ण दृष्टि उन घटनाओं पर है। वे लिखते हैं—

‘वहाँ कोई मंदिर या

मस्जिद न थी

नदी या नाला न था

जो था,

वह किसी को दिखता न था।

अंकित थे,

कुछ शैतानों के दर्पित पद-चिह्न

और कुछ सर्वहाराओं के

जर्जर कंकाल।’ (पृ. 119)

इस सत्य को सब जानते हैं, परंतु कार्यपालिका और विधायिका ने तो चुप्पी साध रखी ही है, न्यायपालिका ने भी आँखों में पट्टी बाँध रखी है—

‘वह कटाव अब भी है
मगर आँखों पे पट्टी बाँधे
न्यायाधीशों की परछाई में
कहीं कुछ दिखता ही नहीं।’ (पृ. 120)

आश्चर्य की बात है कि लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में मान्य मीडिया भी अपना कर्तव्य एवं लक्ष्य भूलकर पैसों का गुलाम बन गया है। यह प्रजातंत्र की बहुत बड़ी विफलता है।

गरीबों, दलितों के प्रति कवि की अपार सहानुभूति है। उसके अंदर आश्चर्यमिश्रित आक्रोश है कि जो लोग महलों, मंदिरों को अपने परिश्रम से बनाते हैं, उन्हीं में उनका प्रवेश निषेध होता है। लेकिन कवि इस बात से आश्वस्त है कि गरीबों (सर्वहारा) के पास इतनी शक्ति होती है कि वे किसी राजा को सिंहासन से उतार सकते हैं और किसी को बिठा भी सकते हैं—

‘गरीब एक ऐसी जात है
जो संघर्ष के बीच
सालों इंतजार कर सकती है
सच की किरणों का...।
एक सिंहासन तोड़कर
दूसरे किसी सिंहासन पर
अभिषेक करा सकती है
सत्यवादी आदर्श राजा का।’ (पृ. 44)

पुस्तक का नाम :	‘कटाव’ (कविताओं का संग्रह)	मूल्य :	150/- (सजिल्द)
लेखक :	श्री रमेश पति	प्रथम संस्करण :	2020
भाषांतर :	डा. अमूल्य रत्न महांति	पृ.संख्या :	120
प्रकाशक :	प्रगति, बादामबाड़ी, कटक-12	समीक्षक :	डॉ. पंकज साहा

संपर्क : डॉ. पंकज साहा, एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी-विभाग, खड़गपुर कॉलेज, खड़गपुर-721305 (प.बं.), मो. 94348 94190

इस संग्रह में कुछ अन्य स्वर की कविताएँ भी हैं, परंतु मूल स्वर है—व्यवस्था की विसंगतियों के प्रति आक्रोश, शोषक शक्तियों का विरोध एवं शोषितों के प्रति सहानुभूति। कवि की दृष्टि गाँव से शहर तक, मिड डे मिल से सांप्रदायिक जहर तक, सर्वत्र गयी है। कवि को सर्वत्र अंधकार नजर आता है, परंतु वह इस अंधकार का अंधा तमाशबीन बनकर रहना नहीं चाहता। दुष्यंत कुमार के शब्दों में...

‘मैं बेपनाह अंधेरों को सुबह कैसे कहूँ,
मैं इन नजारों का अंधा तमाशबीन नहीं।’

इस पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर कवि के बारे में सच ही कहा गया है, ‘शब्द के तपोनिष्ठ साधक रमेश जी शासनतंत्र और समाज के दोगले चरित्र का पर्दाफाश बड़े निर्भीक ढंग से अपनी इन कविताओं में करते हैं।’ पुस्तक के आवरण पृष्ठ पर डा. अमूल्य रत्न महांति के बारे में कहा गया है कि ‘वे अनुवाद की साधना में परकाया प्रवेश करने में निपुण हैं—शत-प्रतिशत सत्य है। अनुवाद एक कठिन कार्य है। कविताओं का अनुवाद तो सबसे कठिन होता है, परंतु महांति जी ने अनुवाद-कला की निपुणता का परिचय देते हुए कवि के भाव एवं अनूदित भाषा दोनों के प्रति न्याय किया है। छपाई त्रुटिहीन है, आवरण प्रतीकात्मक है। यह पुस्तक समकालीन ओड़िया कविता की भाव-दिशा से अवगत कराने में भली-भाँति सक्षम है। विश्वास है, हिंदी जगत में इस पुस्तक का भरपूर स्वागत होगा।

जीवन के यथार्थ बोध की कविताएं

खुदेजा खान

‘काली कविताएं, दक्षिणी भूखंड और मैं’ दक्षिणी भूखंड यानी साउथ अफ्रीका के बोत्सवाना में अपने प्रवास के दौरान कवयित्री मीना सिंह को वहां की परिस्थितियां, वहां के निवासियों के जीवन संघर्ष, अफ्रीकी महिलाओं की दशा, पीड़ा, अभाव, गरीबी और शोषण ने इतना विचलित किया कि अपनी अस्वस्थता के बाद भी उनकी उंगलियों ने कलम थाम ली। रचना काल का समय 2003 से 2008 का है। इसलिए इस संग्रह की 117 कविताओं में आधी कविताएं विविध विषयों पर केंद्रित हैं तो आधी कविताएं अफ्रीकी जनजीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं को रेखांकित करती चलती हैं जो मानव मन के स्वभाव, प्रवृत्ति, अंतर्संबंधों की मीमांसा के साथ जीवन के मूल स्वयं को गति देती, गुंजायमान करती हैं।

शाश्वत भावनाओं के आहत या मुदित होने पर ही सृजन का उत्फुल्लन होता है। इसी मंथन की परिणति इन कविताओं में मिलती हैं।

पहली ही कविता ‘शुरूआत के पूर्व’ से मीना सिंह अपने बुलंद इरादे और स्पष्ट सोच से आगाह कर देती हैं। कहती हैं-

रास्ता भले कठिन हो, हारकर, थक कर नहीं बल्कि निरंतर चल कर इसे पार करना पड़ता है। नज़र साफ होना जरूरी है/ ‘शुरूआत से पहले’ देखो न! मिट्टू सा मन/विषमताओं को चुग-चुग अनार दानों की तरह फेंक देता है’।

असंख्य बेकार के शब्दों से बेहतर है मौन। सिद्धार्थ का मौन मुखर हुआ तो बुद्ध बने। इसको समझना कहां सबके बस की बात है?

जीने के दो तरीके एक प्रेममय दूसरा इर्ष्यालु। ऐसे में आत्मा को निर्मल रखना /यह तय करने का ‘निर्णय’ मनुष्य के हाथ में है। ‘गंतव्य रेखा’ और ‘इच्छित’ भी ऐसे ही मर्म को उद्घाटित करती हैं।

स्वयं से प्रश्न करती ‘स्वयं सिद्धा’ यानी कवयित्री ज़िंदगी को एक सफरनामा मानती हैं लेकिन कैसा और कितना सार्थक? यह प्रश्न भी खड़े करती हैं।

ये देह चिरायु न सही/ तुम मेरी निश्छल, निरामय संवेदनाओं की संप्रेषित/ मेरी कविता हो/ मेरी गर्भ जाया। ‘तरु के लिए’ कविता में अपनी बेटी से संवाद, कविता के माध्यम से स्थापित करती हैं।

उदासी जैसे बुझा दीपक एक हंसी की तीली की प्रतीक्षा में है जो इसे जला सके ‘अपील’ सुंदर कल्पना में ढली हुई कविता है।

मर्म को समझे बिना न पारस हुआ जा सकता है न रिश्तों का निबाह और प्यार के शब्द तो तरकारी से महंगे हुए जाते हैं ‘दुःसाहस’ कविता में मीना सिंह छीजते रिश्तों पर कटाक्ष करती दिखाई देती हैं।

अहा! क्या सुंदर बिम्ब- ‘प्यार के लिए प्राणों का लोबान जला रखा है/

आरती तो ले लो'

सच ही तो है प्रेम से बड़ी क्या 'संपदा' जहां वसीयतनामा महत्वपूर्ण हो तो 'दुर्लभ' कैसे कहा जाए/ रिश्तों का जन्मदिन /केवल रस्म अदायगी'।

मुर्गा बांग नहीं देगा तो क्या सुबह नहीं होगी?' मुर्गा बान' में साहित्य के व्यवसायीकरण, प्रकाशकों के वर्चस्व पर एक कृत संकल्प लेखक की दृढ़ता व्यक्त हुई है जिसकी मिसाल स्वयं कवयित्री भी हैं।

'पानी और मोती' आंखों से बह जाए तो जल और ठहरे तो मोती की सुंदर अभिव्यक्ति।

'स्वप्न' देखने पर टैक्स नहीं था /पूरा करने का बैंक बैलेंस नहीं था। कटु यथार्थ। पूंजी के बिना तो पूजा भी नहीं होती।

जीना यदि सही में जीना हो/ तो कोशिश करनी होगी/ अपने से बाहर आकर देखने की। 'प्रयास' कविता पाठक को एक विचार दृष्टि सौंपती है।

'आस्था और विश्वास' ऐसी चीज़ है जहां धन दौलत कोई मायने नहीं रखते।

पालतू कुत्ते को कितना ही अच्छा भोजन दो मौक़ा मिलने पर विष्ठा खाने से नहीं चूकता लेकिन आदमी, वह तो पशु नहीं है फिर क्यों ओल्ड होम में अपने बूढ़े माता-पिता को छोड़ देता है 'आदमी और कुत्ता' एक विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

'अकाल काल' 'काली आंधी' 'सुनामी' इत्यादि कविताओं में चिंता और चेतावनी स्पष्ट गोचर है।

एक बहुत प्यारी और अर्थपूर्ण कविता - 'लाल रंग' शिखर का ध्वज दंड नहीं/ तराई का अनगढ़ पत्थर तो हूं/जिस पर पहला पैर रखकर/ तुम चढ़े थे.....उस निशान में छुपा होगा/ मेरे श्रम का लाल रंग। जनता को सीढ़ी की तरह प्रयुक्त करते हुए सत्ताधारी, शिखर पर आसीन होकर उन्हीं की अनदेखी कर देते हैं। इसका दूसरा पाठ देखें तो एक स्त्री के त्याग और बलिदान की शिला पर खड़ा व्यक्ति उसी स्त्री

की श्रम साधना को नजरअंदाज़ कर देता है।

'मधु श्रवा', 'लड़की और युगांतर' 'बच्ची और सुतापा' 'मौसम और फुहार' आदि कविताओं में समवेत स्वर में क्रमशः स्त्री विमर्श मुखरित हुआ है। स्त्री क्यों पीड़ित? सब मां हो जाती एक दूसरे के लिए/ बहनें और गुंडिया /एक ऐसा संसार जहां पत्थर के देवता नहीं/ पूजते सब एक दूसरे को। सुंदर परिकल्पना। कवयित्री फिर भी आशान्वित लगती हैं- लड़की अपने जननी होने के/ सत्य और गर्व को पहचानती है खूब।

'बच्ची अब ओस की बूंद नहीं/ सुतापा है /घने बादलों में/ तड़ित सी चमकेगी/ बरसेगी घनघोर/ सुनामी की तरह लील जाएगी।

'धूप, पानी और मर्यादा' में प्रकृति का अति सुंदर मानवीकरण हुआ है- हुआ यूं धूप नहाने लगी/ बादलों के तन अंगड़ाई ले/ इंद्रधनुष हो गए.... ढरक गया प्रकृति का/ फूलदार, रंगीन आंचल। इसी तरह एक और कविता ध्यान खींचती है- '2008 और पीला मौसम' मन भावन बिम्ब 'डूबते सूरज का पीला रंग, पहाड़ों पर पेड़ों के हरे छींटे, वाह! कुदरत की कशीदाकारी जैसे सुनहरी शॉल! - 'इसे अपनी आत्मा के इर्द-गिर्द लपेट लूं'। प्रकृति के साथ बड़ी सहजता से एकाकार हुई हैं कवयित्री।

'पहचान', 'बदलते दिन', 'उस उमर में' 'आत्म दर्शन' कुछ ऐसी कविताएं हैं जहां संबंधों की पड़ताल, रिश्तों का खोखलापन और सच्ची दोस्ती की पहचान को चिन्हित कर उजागर किया गया है।

व्यंजना से भरपूर एक कविता है- 'खोज' ज़िन्दगी की धुनी रूई से/ कपास का फूल/चिटक कर खिलेगा।

दीये के लिए बाती का औचित्य, बिनौले (बीज), कपास और रूई के बिना संभव है क्या?

जिसने साक्षात् बच्चों का अभाव ग्रस्त जीवन और निर्धनता देखी हो उसके लिए ' बच्चे

कविता के बाहर नहीं होते'।

'पिता के नाम' लिखते हुए एक तरह से वज्रपात करती हैं- 'घिसे-पिटे संस्कारों का लबादा ओढ़े पिता/ विचारों के डावांडोल कंधों पर लादे/ कितने दयनीय लगते हैं/ जहां बेटी की अभिलाषाओं, आकांक्षाओं को देख नहीं पाते।

नेल्सन मंडेला और अफ्रीका एक दूसरे के पर्याय हैं। कवयित्री ने बड़ी शिद्धत से अपनी कविताओं में उन्हें याद किया है। '18 जुलाई नेल्सन मंडेला के जन्म दिवस पर' और उनके '88वें जन्मदिन पर' लिखती हैं-

जुड़ सको/तुम भी/मेरी देह के अंत के बाद/ प्राणवंत चेतना की विरासत से।

प्रकाशमान सूरज /रॉबिन आईलैण्ड की जेल में/एक नेल्सन मंडेला।

ओ! नेल्सन मंडेला/ अफ्रीका के क्रांति सूर्य/ बूढ़ी होती देह में जवान आत्मा।

'यात्रा के लिए.....'और 'अघोषित घोषणा' प्रवास की मनोदशा पर केंद्रित हैं।

'दौगड़ा और काली औरतें',

'काली औरत और विवशता', 'काली औरत और आत्म परीक्षा', काली कविता और कॉमन लॉ', 'काली कविता: हरबीस पोर्ट', गार्डन स्ट, वेस्टर्न पोर्ट, उजला हाथ, 'काली कविताएं: अच्छा हो विश्वास करो तुम'

दौगड़ा यानि बारिश की पहली फुहार पड़ते ही काली औरतें- टूटे शीशे का/ तिकोना टुकड़ा/ प्रकृति के इस मोद में/ काली औरत को बनाता है रूपसी/ श्रंगार और केलि क्रीड़ा से संसार में कोई अछूता नहीं'।

भूख से/ चुराती है राशन/जन्मती है दर्जनों

बच्चे/मर जाती है लावारिस/ रोटी, कपड़े और छत के लिए।

प्रकृति और नारी का अपमान ही होता है इस तरह।

कॉमन लॉ का बिगुल बजा और शांत हो गया।

गोरों युवाओं द्वारा पोर्ट पर 'हे कुली' का फिकरा कसना जिनके बाप दादाओं ने काली औरतों के संग अपनी रातें काली कीं।

विकास के नाम पर बाज़ार की वस्तु बनी या सरोगेट मदर। ' वक्रत, आंगन और मंदिर से निकल बाज़ार हो गया'।

वेस्टर्न पोर्ट का केपटाउन गुलामी और औरतों को भोगने का काला इतिहास जो अब इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, इसकी नींव में दफ़न है हज़ारों कालों के शोषण की गाथा।

मगर आज़ादी के बाद जब हालात बदले - कालों का ज़मीर जाग गया/ आज़ाद नीग्रो मांगते हैं अपना अधिकार/मानवता की रक्षा के लिए/ एक उजला हाथ।

पेट और शरीर की भूख का/ काला संधि पत्र/ उन भेड़ियों से विरासत में लिए/ वे उन्मुक्त पताका सी फहरती हैं। ' अच्छा हो विश्वास करो तुम' कि अब भी उनकी कोख प्रेम की आग्रही है। इतनी सारी विसंगतियों के बीच कैसे कोई संवेदनशील हृदय दग्ध न होगा।

इन वृहद फलक की कविताओं को दो चार पत्रों में समेटना मुश्किल काम है। कविताओं का भाषा सौष्ठव सुगठित है। इसे पढ़ना जीवन की गहन-गूढ़ यात्रा के अनेकानेक पड़ावों से गुज़रने के समान है।

पुस्तक का नाम : काली कविताएं, दक्षिणी भूखंड और मैं

लेखिका : मीना सिंह, संपर्क : 87439 12801

प्रकाशक : आयुष पब्लिशिंग हाउस, नवीन शाहदरा, दिल्ली

मूल्य : 395/-

समीक्षक : खुदेजा खान

जगदलपुर/ छत्तीसगढ़

मुक्ताचल जुलाई-सितंबर 2022

118

प्रेमचंद जयंती पर मुक्तांचल के 34वें अंक का लोकार्पण

31 जुलाई, 2022 को 'विद्यार्थी मंच' द्वारा प्रेमचंद जयंती के अवसर पर 'मुक्तांचल' त्रैमासिक पत्रिका के 34वें अंक का लोकार्पण समारोह का आयोजन किया गया। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता खुदीराम बोस सेंट्रल कॉलेज की हिंदी विभागाध्यक्ष शुभ्रा उपाध्याय ने की। कार्यक्रम की शुरुआत सरस्वती वंदना से हुई जिसे श्रद्धा गुप्ता ने प्रस्तुत किया। इसके पश्चात मंचासीन सभी विद्वानों ने मुक्तांचल पत्रिका के जुलाई अंक का लोकार्पण किया।

मुक्तांचल पत्रिका की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा ने पत्रिका के 34वें अंक के बारे में बताते हुए कहा कि यह पत्रिका लोगों से जुड़ने और जोड़ने का कार्य कर रही है। उन्होंने कहा कि स्वयं को विकसित करने का एक विशेष जरिया साहित्य है क्योंकि साहित्य में सबकुछ समाहित है। इसके साथ ही उन्होंने आपसी संवाद से 'साहित्यिक माहौल' बनाने की पहल पर विशेष बल दिया।

प्रेमचंद जयंती पर अनुष्ठित कार्यक्रम के प्रथम वक्ता डॉ. विनय मिश्र ने वर्तमान समय में प्रेमचंद की लोकप्रियता पर बात करते हुए कहा कि भारतीय समाज व्यवस्था को समझने में प्रेमचंद का साहित्य सदैव सहायक रहेगा। उन्होंने प्रेमचंद की रचनाओं के माध्यम से स्त्री, दलित, जातिवाद और संप्रदायवाद की समस्याओं को उठाते हुए उसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखने की बात कही।

कार्यक्रम में मौजूद दूसरे वक्ता जीवन सिंह ने अपने वक्तव्य की शुरुआत प्रेमचंद की प्रासंगिकता से करते हुए कहा कि आज जो समाज में घट रहा है, उसकी भनक प्रेमचंद को सौ वर्ष पहले हो चुकी थी। अन्य भाषा की रचनाओं से तुलना करते हुए उन्होंने बताया कि आज प्रेमचंद को पढ़ना क्यों जरूरी है। प्रेमचंद के समग्र साहित्य में वर्तमान भारत की समस्याओं पर गहरी चिंता दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा

कि आज की पीढ़ी को जरूरत है भारतीय समाज की कुव्यवस्था से लड़ने की।

मुख्य वक्ता मिदनापुर कॉलेज (ऑटोनामस) के हिंदी प्राध्यापक डॉ. रणजीत कुमार सिन्हा ने प्रेमचंद के महत्त्व को उजागर करते हुए बताया कि प्रेमचंद ने भोगे हुए यथार्थ से अपने साहित्य की भूमि तैयार की। उन्होंने वही लिखा जो समाज ने भोगा था। प्रेमचंद के पात्र आज भी हमारे इर्द-गिर्द जीवित हैं। वर्तमान समय में चल रहे तमाम विमर्शों के स्रोत प्रेमचंद के साहित्य में मिल जाते हैं।

इसी कड़ी में अगले वक्ता विवेक लाल ने प्रेमचंद के साहित्य पर चर्चा करते हुए कहा कि आधुनिक हिंदी साहित्य में चेतना रूपांतरण के सबसे महत्वपूर्ण रचनाकार प्रेमचंद हैं। प्रेमचंद अपनी दूरदर्शी दृष्टि के कारण सदैव नवीन रहेंगे और आज जरूरत है प्रेमचंद के पाठक को अपने अंदर इंकलाब की चेतना लाने की।

इस अवसर पर उपस्थित श्रीप्रकाश गुप्ता ने कहा कि आज के विद्यार्थी एवं युवा वर्ग को पाठ्यक्रम से इतर भी प्रेमचंद को पढ़ने एवं समझने की जरूरत है क्योंकि समाज में परिवर्तन तभी संभव है जब आज की युवा पीढ़ी प्रेमचंद को नवीन नजरिये से पढ़ेगी।

कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रही डॉ. शुभ्रा उपाध्याय ने अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद परिचर्चा में मौजूद सभी वक्ताओं एवं श्रोताओं को साधुवाद दिया। शुभ्रा उपाध्याय ने कहा कि प्रेमचंद के यहाँ जैसी आत्मीयता और संवेदना मिलती है वैसा अन्यथा मिलना मुश्किल है। आज भी जब हम विमर्शों की बात करते हैं तो हमें सबसे पहले प्रेमचंद के पास जाने की जरूरत है।

कार्यक्रम में मौजूद रितेश पांडे और जीवन सिंह जी ने अपनी स्वरचित कविता का पाठ करके कार्यक्रम को आनंदमय कर दिया। इसके साथ ही अक्षिता साव, अभिषेक पांडे, प्रीति साव

एवं श्रद्धा गुप्ता ने भी अपनी स्वरचित कविता तथा गज़लों को प्रस्तुत किया।

अंत में नगीनालाल दास ने धन्यवाद ज्ञापन देकर कार्यक्रम में मौजूद सबके प्रति आभार व्यक्त किया। कार्यक्रम का कुशल संचालन परमजीत कुमार पंडित ने किया। कार्यक्रम में मौजूद

सुशील कुमार पांडेय, विनोद यादव, विनीता लाल, सरिता खोवाला, बलराम साव, शनि चौहान एवं रानी तांती समेत अनेक विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों ने अपनी सक्रिय भागीदारी निभाई।

प्रस्तुति : रानी तांती

तुलसी जयंती पर 'विद्यार्थी मंच' द्वारा परिचर्चा का आयोजन

हावड़ा/कोलकाता : आज रविवार 7 अगस्त को विद्यार्थी मंच द्वारा 'साहित्यिक अड्डा' का आयोजन किया गया। इस अवसर पर 'स्वतंत्र भारत में तुलसी की प्रासंगिकता' विषय पर परिचर्चा का आयोजन किया गया। इस परिचर्चा सत्र की अध्यक्षता 'मुक्तांचल' त्रैमासिक पत्रिका की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा ने किया।

कार्यक्रम का आरंभ सरस्वती वंदना से हुआ, जिसे विद्यार्थी मंच की सचिव मंडल में शामिल श्रद्धा गुप्ता ने प्रस्तुत किया। इस पूरे कार्यक्रम का कुशल संचालन विनोद यादव ने किया।

मुख्य वक्ता के रूप में उपस्थित विवेक लाल ने 'स्वतंत्र भारत में तुलसी की प्रासंगिकता' विषय पर अपने विचार रखते हुए कहा कि तुलसीदास ने अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' में जिस राम को अंकित किया है वह राम तक सीमित न होकर नारायण में परिवर्तित हो गए हैं। वर्तमान समय में तुलसीदास की प्रासंगिकता पर विचार करना आज के समय की जरूरत है। इसके साथ ही उन्होंने कहा कि तुलसीदास ने ही राम-राज्य की अवधारणा भारतीय समाज को दी, वही राज्य राम-राज्य है जो अपने आप में परिपूर्ण हो।

इस परिचर्चा में उपस्थित अन्य वक्ताओं ने भी तुलसीदास की प्रासंगिकता पर अपने विचार प्रस्तुत किए। जिनमें पंकज प्रिया गुप्ता, प्रिंस मिश्रा, युवराज राय आदि शामिल थे। श्रद्धा गुप्ता ने इस अवसर पर अपनी स्वरचित कविताओं

और गज़लों का पाठ किया। उन्होंने 'साहित्य सा जीवन मेरा' (कविता), रात का अंधेरा (कविता) और ईद का चाँद (गज़ल) का पाठ किया।

यह आयोजन बहुआयामी और विद्यार्थियों के लिए उपयोगी रहा। परिचर्चा के समानांतर व्याख्यान देने के कौशल पर भी विचार किया गया। एक प्रकार से यह विद्यार्थी मंच द्वारा किया गया एक नया एवं अभिनव प्रयोग था। एक प्रकार से यह परिचर्चा के साथ-साथ 'व्याख्यान कौशल' की कार्यशाला भी थी, जहाँ सभी वक्ताओं के व्याख्यान कौशल की खूबियों और कमियों को आपसी विचार-विमर्श द्वारा उजागर किया गया। इस प्रकार विद्यार्थियों ने एक ओर परिचर्चा के माध्यम से तुलसीदास के संबंध में जानकारी प्राप्त की, वही दूसरी ओर व्याख्यान कौशल की तकनीकी विशेषताओं से भी परिचित हुए।

अपने अध्यक्षीय भाषण ने डॉ. मीरा सिन्हा ने कहा कि समय-समय पर साहित्यिक बैठक एवं विचार-विमर्श लोगों को जोड़ने का काम करता है। अगर हम विकसित होंगे तभी समाज विकसित होगा क्योंकि हम स्वयं समाज की ईकाई हैं। उन्होंने आपसी संवाद कायम रखने पर विशेष बल दिया।

अंत में बलराम साव ने धन्यवाद ज्ञापन देकर कार्यक्रम में उपस्थित सभी के प्रति आभार प्रकट किया।

प्रस्तुति : श्रद्धा गुप्ता

आजादी के अमृत महोत्सव पर 'मुक्तांचल' तथा 'विद्यार्थी मंच' द्वारा 'विविधा' का आयोजन

कोलकाता / हावड़ा : 'मुक्तांचल' एवं 'विद्यार्थी मंच' द्वारा रविवार 21 अगस्त को 'विविधा' का आयोजन किया गया। यह साहित्यिक कार्यक्रम आजादी के अमृत महोत्सव के उपलक्ष्य में आयोजित किया गया। यह आयोजन कविता पाठ, गीत गायन एवं विचार प्रेषण के साथ ही साथ 75 वर्ष के अनंतर लिखी गई अपनी पसंदीदा कृति अथवा कृतिकार पर केंद्रित रही।

'मुक्तांचल' की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा ने सबका स्वागत करते हुए छात्रों में साहित्य प्रेम के नवांकुरित होने तथा उनके पल्लवित-पुष्पित होने की इच्छा जतायी। कार्यक्रम की शुरुआत सरस्वती वंदना से हुई जिसे प्रिया श्रीवास्तव ने प्रस्तुत किया।

इस अवसर पर कुछ नई प्रकाशित पुस्तकों का लोकार्पण भी किया गया। जिसमें डॉ. पंकज साहा का लघुकथा संग्रह 'संभावना', श्रीप्रकाश गुप्ता द्वारा रचित नाटक 'सारे जहाँ से अच्छा' तथा प्रकाश कुमार अग्रवाल द्वारा संपादित पुस्तक 'पसंदीदा कहानीकारों की प्रतिनिधि कहानियाँ' का विमोचन हुआ।

आजादी के अमृत महोत्सव को ध्यान में रखते हुए कवियों तथा विद्यार्थियों ने अपनी स्वरचित कविता, गज़ल तथा गीत को गाया तो कुछ ने अपनी पसंदीदा कवियों की कविताओं की आवृत्ति की। कार्यक्रम में मौजूद राज्यवर्धन, रमाशंकर सिंह, निशांत, सरिता खोवाला, शिवप्रकाश चौबे, प्रिंस मिश्रा, युवराज राय, दीपक पासवान, श्रद्धा गुप्ता, मनीषा सिंह ने अपनी स्वरचित कविताओं का पाठ किया तथा राव्या श्रीवास्तव, स्वराज पांडेय, अंकिता साव, अक्षिता शशि साव, रिकी कुमारी साव ने कविताओं की आवृत्ति प्रस्तुत की। श्रद्धा गुप्ता ने 'स्वये की आत्मकथा' को अपनी कविता द्वारा एक नए कलेवर में प्रस्तुत किया।

मुख्य वक्ता के तौर पर मौजूद काजी नजरूल

विश्वविद्यालय की प्राध्यापिका प्रतिमा प्रसाद ने 'मुक्तिबोध की कहानियों का यथार्थवादी सन्दर्भ' पर अपनी बात रखते हुए कहा कि मुक्तिबोध की स्त्री पात्र आजादी के बाद उत्पन्न सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने में सशक्त नजर आती हैं। दूसरे मुख्य वक्ता विवेक लाल ने दुष्यंत कुमार की गज़ल संग्रह 'साये में धूप' संग्रह पर अपने विचार प्रस्तुत किए।

श्रीप्रकाश गुप्ता ने आजादी के परिप्रेक्ष्य में लिखी स्वरचित कविता 'मुखमरी' का पाठ किया। इसी क्रम में नवीन सिंह ने आजादी के विभिन्न पहलुओं पर बात करते हुए अपनी देशभक्तिपूर्ण कविताओं से सबका ध्यान आकर्षित किया। प्रकाश कुमार अग्रवाल ने आजादी के अमृत महोत्सव में अभिव्यक्ति की आजादी पर अपनी बात केंद्रित की। इसी कड़ी में डॉ. विनय मिश्र ने भी आजादी की उन्मुक्तता पर अपनी बात रखते हुए 75 साल में आये साहित्यिक संवेदनशीलता तथा उसकी संभावनाओं पर चर्चा की। कंचन रजक ने गीतांजलि श्री के 'माई' उपन्यास पर अपने विचार प्रस्तुत किए।

कार्यक्रम के संचालनकर्ता परमजीत कुमार पंडित ने आजादी के 75 वर्षों बाद 'हिंदी सिनेमा में देशभक्ति गानों के बदलते हुए स्वरूप' पर अपनी बात रखी।

कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे डॉ. पंकज साहा ने आजादी के अमृत महोत्सव की सार्थकता पर अपने विचारों को साझा करते हुए कार्यक्रम में उपस्थित सभी श्रोतागणों के प्रति आभार प्रकट किया। कार्यक्रम के अंत में धन्यवाद ज्ञापन शनि चौहान ने दिया।

कार्यक्रम में मौजूद सुशील पांडेय, विनोद यादव, विनीता लाल, बलराम साव, रानी तांती समेत अनेक विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों ने अपनी सक्रिय भूमिका निभाई तथा कार्यक्रम को सफल बनाया।

प्रस्तुति : विनोद यादव

विद्यार्थी मंच द्वारा शिक्षक दिवस का आयोजन

हावड़ा : 'विद्यार्थी मंच' द्वारा रविवार 4 सितंबर को शिक्षक दिवस की पूर्व संध्या पर शिक्षक दिवस समारोह का आयोजन किया गया। समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में मुक्तांचल पत्रिका की संपादक डॉ. मीरा सिन्हा, अध्यक्ष के रूप में खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज की विभागाध्यक्ष डॉ. शुभ्रा उपाध्याय, मुख्य वक्ता के रूप में डॉ. विनय मिश्र एवं संचालक के रूप में विनोद यादव उपस्थित रहें।

कार्यक्रम का शुभारंभ डॉ. मीरा सिन्हा एवं समारोह में उपस्थित सभी सदस्यों द्वारा डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के चित्र पर माल्यार्पण कर किया गया। इसके पश्चात सुषमा कुमारी द्वारा सरस्वती वंदना की प्रस्तुति की गई।

शिक्षक दिवस के अवसर पर उपस्थित शिक्षकों, कवियों एवं विद्यार्थियों द्वारा स्वरचित कविता का पाठ किया गया एवं वक्तव्य रखे गए। कार्यक्रम में उपस्थित कालिका प्रसाद उपाध्याय, श्रीप्रकाश गुप्ता, प्रिया श्रीवास्तव एवं सुषमा कुमारी द्वारा स्वरचित कविताओं का पाठ किया गया। तदुपरान्त विनीता लाल ने वर्तमान समय को ध्यान में रखते हुए शिक्षक एवं शिष्यों के मध्य बढ़ती हुई दूरी एवं टकराव पर अपनी बात रखी। उन्होंने कहा केवल शिष्य ही नहीं बल्कि शिक्षकों का भी यह दायित्व है कि वह खुद आगे आ कर इस दूरी को मिटाने व कम करने का प्रयास करें। विवेक लाल जी ने अपने वक्तव्य में शिक्षक दिवस के बदलते हुए वर्तमान रूप को हमारे समक्ष रखने का प्रयास किया। शिक्षक दिवस आज मात्र साज-सज्जा, केक एवं उपहार तक सीमित रह गया है। इसके साथ-साथ उन्होंने अवकाश प्राप्त अध्यापकों के प्रति भी अपनी श्रद्धा अर्पित की।

मुख्य वक्ता के रूप में उपस्थित डॉ. विनय मिश्र ने शिक्षकों से जुड़ी कबीरदास जी के तीन दोहों की प्रासंगिकता को व्यक्त करते हुए शिक्षा एवं शिक्षक से जुड़ी महत्वपूर्ण कड़ियों की तरफ श्रोताओं का ध्यान खींचा। कार्यक्रम की अध्यक्ष डॉ. शुभ्रा उपाध्याय ने अपने वक्तव्य में शिक्षक के दायित्व पर अपनी बात रखी। कोई भी शिक्षक सर्वज्ञानी नहीं होता यह बात उसे मान कर चलनी होती है। एक अच्छा शिक्षक एक माँ की तरह होता है। वह अपने जीवन काल में अपने आस-पास जो कुछ भी अच्छा देखता है, सीखता है उसे वह अपने विद्यार्थियों को सीखाता है। एक अच्छा शिक्षक एक पढ़ाकू विद्यार्थी भी होता है जो स्वाध्याय द्वारा समय के साथ अपने ज्ञान में वृद्धि करते रहता है एवं नए प्रयोगों द्वारा शिक्षा को सुगम एवं रूचीकर बनाता है। मुख्य अतिथि डॉ. मीरा सिन्हा ने वर्तमान समय में डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के हमारे स्मृतिपट से ओझल हो जाने पर अपनी चिंता व्यक्त की और साथ ही विद्यार्थियों का मनोबल बढ़ाते हुए उन्हें अपने सामर्थ्य एवं ज्ञान के बल पर अपने उज्ज्वल भविष्य के निर्माण करने की बात कही।

कार्यक्रम के संचालक विनोद यादव ने अपने वक्तव्य में कहा आज के युग में भी ऐसे गुरु हैं जो एकलव्य से उनका अंगूठा नहीं माँगते बल्कि उनकी प्रतिभा को निखारने में उनका सहयोगी हाथ बन जाते हैं। इसके साथ ही धन्यवाद ज्ञापन करते हुए उन्होंने कार्यक्रम को विराम दिया। कार्यक्रम में उपस्थित प्रिंस मिश्रा, युवराज राय, राव्या श्रीवास्तव, बलराम साव, अक्षिता साव, अंकिता साव, प्रदीप धानुक, जातिब हयाल आदि ने सक्रिय भूमिका निभाते हुए कार्यक्रम को सफल बनाया।

प्रस्तुति : प्रिया श्रीवास्तव

...

इस पार तक

संतोष सुपेकर
(जन्म 29 जून 1967)



भूलभुलैया में

बहस जारी थी टेलीविजन पर
भूख को लेकर
एक ने कहा -
कई लोग मर रहे हैं भूख से
दूसरे ने आँकड़े पेश कर दिये-
ग्यारह लोग मरे हैं अब तक भूख से
तीसरा तीव्र विरोधी स्वर में बोला-
नहीं कोई नहीं मरा, अब तक भूख से
पहला चिल्लाया - तुम झूठे हो
दूसरा चिल्लाया - तीसरा झूठा है
तीसरा चिल्लाया - तुम सब झूठे हो
गुमराह कर रहे हो सबको।

भूख और झूठ
झूठ और भूख के इस शोर में
भूख दब गई, पिस गई
मरने वाले, शांति से
बिना चिल्लाए मर गए
एक झूठ हावी हो गया
रिमोट चलाती उँगलियों पर
और बदल दिया गया
टीवी का चैनल, तुरन्त ही।।

नक्कारखाने की उम्मीदें
रचनाकाल - 2020

RNI NO. WBHIN/2014/70173

POSTAL REG. NO. WB/HWH-90/2018-2020



मुक्तांचल : जुलाई-सितंबर 2014

हावड़ा विद्यार्थी मंच (8/2L No. 8053 of 20/3-2014) 6/2/1, आशुतोष
मुखर्जी लेन, सलकिया, हावड़ा-711106 द्वारा प्रकाशित एवं गोपी कृष्ण पालुई,
शिक्षण द्वारा 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा